अजगर करे न चाकरी

सूर्यबाला

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

विषय-सूची

बन गयी मेरे उपन्यास पर एक अदद कला फिल्म

मेरी तकदीर का परदा जब खुलता है तो नजारा यह होता है कि स्टेज अर्थात् अपने ड्राइंग-रूम में एक तरफ मैं होती हूँ, दूसरी तरफ वे, अर्थात् कला फिल्म वाले और बीचोंबीच मध्यस्थ—पार्श्व के कमरों मे जो सगीत उभरता है, उसमें मेरे कक्षा चार, पाँच और छह आदि में पढने वाले बच्चे अत्याक्षरी स्टाइल मे मध्यस्थ-वंदना करने लगते हैं; जैसे—'मध्यस्थ खड़ा है दोनों में एशिया खंड का यह नगेश…'

मंच पर छाया-प्रकाश का संयोजन एव अंदर-बाहर का सचालन तथा *नियंत्रण मेरे पति कर रहे होते हैं, जो ड्राइंग-रूम एवं कमरो के परदे के पीछे* छुपे होते है। वास्तव मे उन्ही के घुड़कने से पार्श्व सगीत शांत हो गया होता है।

अब मध्यस्थ ने उन सभी से मेरा परिचय कराया है और सबों ने बारी-बारी से मुझसे एक ही सवाल दोहराया है, 'आप कैसी है?' अर्थात् 'हाउ आर यू?'

जवाब मे मैंने कहा है कि मैं अति प्रसन्न हूँ। उन्होंने कहा कि वे मेरे उपन्यास पर एक कला-फिल्म बनाना चाहते हैं। (मैंने कहा नहीं कि इसीलिए तो मैं अति प्रसन्न हूँ)

मैंने औपचारिकता निभाते हुए कहा, 'मेरी हार्दिक आकाक्षा थी कि मै अपनी कृति के पात्रों को चलचित्र के माध्यम से जीवंत रूप में…'

उन्होंने घबराकर मध्यस्थ से कहा, 'इनसे कहो, चूँकि मैं हिंदी में फिल्में बनाता हूँ, इसलिए मुझसे हिंदी मे ही बोलें।'

मैंने अपने मतव्य का हिंदी रूपांतर यों किया, 'मेरा दिली अरमान है कि…'

'समझ गया, समझ गया…!' वे खुश होकर बोले थे। फिर उन्होंने

मुझे बताया कि आपका उपन्यास बेहद खूबसूरत है···इसे पढकर दिल बाग-बाग हो गया। और साथ ही कई अदद मुबारकबाद और बधाइयाँ दीं। मैंने बधाइयों के भार से झुकी पलकें उठाते हुए मध्यस्थ को इशारा किया, जिसका अर्थ था, 'इनसे पूछो ये मुझे बधाइयों के अतिरिक्त और क्या देंगे ?'

मध्यस्थ ने बात चलायी।

उन्होंने कहा, 'आपका उपन्यास अनमोल है।'

मैंने कहा, 'फिर भी कुछ-न-कुछ मोल तो लगाना ही होगा।'

उन्होंने बात साफ की और मेरी हस्ती बनाम औकात की याद दिलाते हुए बताया कि चूँकि प्रतिबद्ध साहित्यकार बिकाऊ नहीं होते, इसलिए वे मुझे बिकने पर मजबूर नहीं करेंगे। साथ ही अनमोल उपन्यासों पर बनी कला-फिल्में भी पिक्चर हॉलों में नहीं, वरन् फिल्मोत्सवों में और विशेष रूप से आमन्त्रित अतिथियों के सामने ही दिखलायी जाती हैं, इसलिए इनसे एकाध कास्य प्रतिमा और कुछेक हजार रुपये मिल जाते हैं, बस। इसलिए समझ लीजिए आपके उपन्यास के माध्यम से हम अपने पैरों पर कुल्हाड़ी ही मार रहे हैं, फिर भी।'

मैंने पूछा, 'फिर भी···'

उन्होंने कहा, 'हम आपको आठ हजार देंगे।'

मेरा सिर अपने उपन्यास की औकात जानकर शर्म से झुक गया। वे समझ गये, बोले, 'आप दुःखी हैं, यह हम नहीं देख सकते, चलिए; हम आपको दस हजार देंगे···।'

मैं उचक गयी, 'यह हुई न कला फिल्मों वाली बात ! आठ हजार उपन्यास के, दो हजार हद दरजे की शर्मिंदगी के, कुल जोड दस हजार !' बात पक्की हो गयी। मैंने कन्या की माता की तरह गद्गद स्वर में कहा, 'अब यह (कहानी) आपकी हुई !'

इस संवाद के बाद पति ने परदा गिराकर मध्यांतर की घोषणा कर दी। मध्यांतर में मेरे घर खीर और मटर-पनीर की सब्जी बनी और देर तक इस महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर बहस होती रही कि कितने ऐसे उपन्यासों के प्लॉट बेच लेने के बाद एक औसत दरजे का रहने लायक प्लॉट खरीदा जा सकेगा ?

मैं अगले दृश्य के संवाद रटकर तैयार हो चुकी थी। वे आये तो और

भी खुश ! कहने लगे, 'आप[illegible]
ही काम शुरू हो जायेगा।
के बिना कला अधूरी है और प्रेम के बिना संगीत, इसलिए कुछ सांग-सिचुएशन, मेरा मतलब है लव-सांग…।'

मैंने हैरत से कहा, 'लव-सांग गाने लायक स्थिति या चरित्र तो कहानी में है ही नहीं, फिर गायेगा कौन ?'

उन्होंने आश्वस्ति से कहा, 'कोई भी गा देगा,' फिर समझकर बोले, 'लेकिन कायदे में नायिका को ही गाना चाहिए न…?'

मैंने कहा, 'लेकिन पूरी कहानी में नायिका का तो कोई लव-सीन है ही नहीं…?'

उन्होंने बड़े कृपाभाव से कहा, 'कोई बात नहीं, हम जोड़ लेंगे। आखिर हम किस दिन के लिए हैं ?'

मैंने हिम्मत कर उन्हें याद दिलाया, 'आप संभवतः भूल रहे हैं। मेरी नायिका की उम्र काफी ज्यादा है। अधेड़ उम्र की नायिका लव-सांग गाती हुई कैसी लगेगी, आप ही सोचें…!'

उन्होंने बेफिक्री से कहा, 'तो उम्र थोड़ी घटा देंगे। कमसिन रहेगी तो सब-कुछ फब जायेगा।'

'कैसी बातें करते हैं आप, बुजुर्ग होते हुए ! मेरी नायिका के तो पन्द्रह-सोलह साल का बेटा भी है।'

'लड़के की उम्र भी घटा दी जायेगी…खुश ?'

मैं रुआंसी हो गयी, 'तब तो पूरी कहानी ही बदल गयी…यह मेरी नायिका पर सरासर अत्याचार है।'

उन्होंने बड़े रसिक अंदाज में कहा, 'अत्याचार ? अजी हम तो उसके उद्धार-कार्य में लगे हैं।'

मेरे अंदर का प्रतिबद्ध कलाकार इसी मौके की ताक में था। फौरन उछलकर बाहर आ गया, 'देखिए, आप सौदा कर रहे हैं।'

उन्होंने भी बात साफ कर दी, 'देखिए, यदि आप इतनी छोटी-मोटी सुविधाएं भी नहीं देंगी तो उपन्यास पर फिल्म बनाने का विचार ही त्यागना पड़ेगा…और फिर सोच लीजिए, मात्र नायिका की उम्र पांच-सात वर्ष

घटा देने से हम आपको पांच-सात हजार हर्जाना दे सकते हैं।'

□

यही पर नेपथ्य से टार्च खड्खड़ायी। परदे के पीछे से घूरते हुए पति मुझे इशारों से घुड़क रहे थे, जिसका अर्थ था, 'मानती है कि निकलूं मैं नेपथ्य से बाहर?'

मैंने असहाय मुद्रा में उनसे कहा, 'घटा लीजिए। सिर्फ एक विनती है, नायिका कहीं नाबालिग न रह जाये।'

उन्होंने मान लिया और मामला इस तरह तय हुआ कि नायिका की उम्र पांच साल घट गयी, कहानी का मूल्य सात हजार बढ़ गया।

अब डाइरेक्टर ने सुझाया कि 'कहानी के ज्यादा ही त्रासक और एकरस होने का खतरा है, इसलिए कुछ हल्के-फुल्के हास-परिहास···।'

उन्होंने कहा, 'तो डाल देना थोड़ी-बहुत हास्यास्पद चीजें भी।'

मैंने पूछा, 'लेकिन किस जगह डालेंगे आप?'

वे बोले, 'अरे, ये एक्सपर्ट हैं···किसी भी दृश्य को हास्यास्पद बना सकते हैं।'

मैंने खुद भी महसूस किया कि ऐसे-ऐसे कई एक्सपर्ट जुट जायें तो कुछेक दृश्य ही क्यों, समूची फिल्म ही अपने-आपमें हास्यास्पद और बेजोड़ होगी।

उन्होंने मुझे आश्वस्त किया कि एक ईमानदार फिल्म-निर्माता की तरह, इस फिल्म की पूरी-की-पूरी शूटिंग वे मेरे पिछड़े शहर में ही करेंगे, सिर्फ कुछ दृश्यों को छोड़कर—मसलन, एक, जब नायिका स्वप्न देखती है कि स्वर्गपुरी की अप्सराएँ उसे ससम्मान उठा ले गयी हैं और वह इन्द्रपुरी में होने वाली सौन्दर्य-स्पर्द्धा में अपने कस्बे का प्रतिनिधित्व कर रही है। दूसरे, जब नायिका समाज से मिली प्रताड़ना एवं लांछनों से तंग आकर, ऊबकर कश्मीर भाग जाती है। मैंने उनसे पूछा कि आमतौर पर तो सभी बंबई भागती हैं, तो उन्होंने कहा, 'वही—फिर एक आम फार्मूला फिल्म और कला फिल्म में फर्क ही क्या रहा? यह नायिका आम-औसत नायिकाओं से अलग जो है। बंबई के बदले कश्मीर भागना अपने-आपमें एक क्रांतिकारी और प्रयोगात्मक कदम है···साथ ही नायिका के स्तर और सौंदर्य-चेतना का परिचायक भी···।'

कला और प्रयोग की बात चलने पर छायाकार ने कहा कि वह भी इस फिल्म के माध्यम से छायांकन में कुछ नये प्रयोग करना चाहता है। जाहिर था कि प्रयोग नायिका पर ही होगा। शुद्ध रूप से नायिका पर, उसके वस्त्राभूषणों की चमक-दमक पर नहीं। इस 'शुद्ध नायिका' वाली बात से मैं भड़क गयी। आखिर मेरी साहित्यिक प्रतिबद्धता का सवाल था। सो मैं नायिका के कपड़े निकलवाने के लिए किसी तरह तैयार नहीं हुई।

प्रोड्यूसर-डाइरेक्टर मुझे देश-विदेश के संदर्भ दे-देकर समझाने लगे कि कहाँ-कहाँ, किसने-किसने, कैसे-कैसे साहसिक प्रयोग कला के क्षेत्र में किये हैं। यह तो महज एक छोटा-सा योगदान होगा। मैंने कहा, 'लेकिन सेंसर से भी तो ऐसे दृश्य वर्जित हैं फिल्मों में!'

उन्होंने कहा, 'कला फिल्मों में नहीं। कला फिल्मों में सब चलता है—इसीलिए तो मैंने अपनी फिल्म का नाम कला फिल्म रखा है...।'

मैंने कहा, 'लेकिन चीज तो वही है...?'

उन्होंने कहा, 'ढग कलात्मक होगा न! (कपड़े निकलवाने का)'

मैंने कहा, 'कैसे?'

इसपर सभी लोगों ने एकजुट होकर चिंतन किया। चिंतन सफल रहा। उपाय निकल आया। फिल्म में नायिका की एक अदद माँ जोड़ दी गयी, जो बीच में ही कहीं असमय मृत्यु को प्राप्त हो गयी। बस, इसी जोड़ी गयी माँ के गम में, नायिका होशोहवास खो देगी और सारे पहने हुए कपड़े फाड़कर तार-तार कर देगी। यह दृश्य 'थीम' की एक आवश्यक माँग होगी।

'दृश्य बड़ा हृदय-विदारक होगा...।' सब एक स्वर में कह उठे। साधु-साधु...साधु-साधु...!

पार्श्व अर्थात् परदे के पीछे से टार्च खडखडायी। छुपे हुए पति ने मुझे इशारा किया। मैंने उनका सिखाया हुआ संवाद बोला। इसका परिणाम यह हुआ कि फिल्म में यह हृदय-विदारक दृश्य जोड लेने की सुविधा एवं छूट प्रदान करने के लिए मेरे पारिश्रमिक में पाँच हजार और जोड़ दिये गये। आखिर यह एक महान् कृति के मूल्यांकन एवं फिल्मांकन का सवाल था!

साधु-साधु...पति परदे के पीछे छुपे-छुपे थक रहे थे और परदा गिरा देने के लिए बेताब भी।

अथ अकर्मण्य-यज्ञ-उपदेशामृत

हे पार्थ ! तू क्यो हताश, शोकाकुल और दुखी है ? तू क्यों भन्नाया हुआ है ?···दुःखी होने से तुझे क्या मिलने वाला है ? और भन्नाकर ही तू क्या मजा लेने वाला है ? अर्थात् कुछ भी नही। सो बुरी तरह फँसा हुआ तू कुछ भी कर सकने या कर गुजरने की स्थिति मे नही है। इसलिए, अच्छा हो, इस कुठित स्थिति से उबरने के लिए तू जा और क्रिकेट मैच देख आ !

क्या हुआ, हार गया भारत ? नौ विकेटो से ? पूरी शृंखला भी ? हे पार्थ ! क्रिकेट मैच देखकर तो तू और भी कुठित, और भी शोचनीय स्थिति को प्राप्त हो आया। अत अब मेरे लिए आवश्यक है कि तेरे समक्ष आत्मज्ञान अर्थात् विभिन्न प्रकार की आत्माओ के ज्ञान का दर्शन करूँ, साथ ही कर्म और अकर्मण्य-यज्ञ की व्याख्या भी। इससे तेरा चित्त शोकरहित होगा और तू आनद को प्राप्त होगा।

सुन ! वह जो कुर्सियों के हत्थो और पायों के उखडने और गाली-गलौज की आवाजें आ रही हैं, वे उन आत्माओ की है, जो निरंतर कुर्सियों पर चढती-उतरती, फिर-फिर चढने की हाथापाई मे आस्तीनें और कॉलर इत्यादि नुचवाती रहती हैं। ऊपर वायुमंडल मे से जो भुंजुआनी आवाज आ रही है, वह आकाशमार्ग मे विचरण करने वाली आत्माओं के यानो की है। वे आत्माएँ देश के सभी सभावित आकाशमार्गो से दिल्ली की ओर और दिल्ली से विदेशों की ओर चक्कर काटती आत्माएँ है। मेरे दायी ओर के राजमार्ग पर जाने वाली, सास्कृतिक महोत्सवों में परस्पर मेल-मिलाप का फीता काटने वाली आत्माएँ हैं। और वह जो अभी धमाका हुआ, वह गोली-बारूद ले, अमन-चैन और धर्म की रक्षा के निमित्त निकली आत्माएँ हैं।

हे पार्थ ! इन आत्माओं को तू ध्यान से देख ! ये सब भिन्न-भिन्न रूपों, वर्णों, रंगों और परिधानों वाली सारी ही आत्माएँ अंदर से एक ही

है। अत: तू इनको एक ही समझ, क्योंकि विभिन्न माध्यमों के होते हुए भी ये सारी-की-सारी आत्माएँ एक ही कर्म में प्रवृत्त हैं।

वे कर्म क्या है?

क्या कहा? तू जानता है?

तू क्या जानता है? तू खाक जानता है! हे पार्थ! ज्यादा जानने, समझने और जानकार बनने की कोशिश मत कर, क्योंकि तू अभी अपनी औकात और बिसात ही नही जानता।

अत: पहले वही समझ! तू क्या है···? सुन, तू मात्र एक भुनगा है। भुनगा जानता है न तू? अर्थात्, तू कुछ भी नही है। इसलिए ज्यादा भनभना मत!

और ये सारी-की-सारी आत्माएँ अजर है, अमर है; ये न शस्त्रो से छिदती है, न अग्नि में दहती हैं, न ही दंगे-फसादों मे मरती है—क्योंकि ये हमेशा बुलेट-प्रूफ जैकेटों से सुसज्जित अनेक बॉडी-गार्डों से घिरी रहती हैं। इसलिए ये गोलियों की बौछारों से तनिक भी प्रभावित नही होतीं अर्थात् इनके कानों पर जूँ तक नही रेंगती, क्योंकि ये अनेकानेक सुरक्षा-चक्रों से घिरी रहती हैं। इस प्रकार मुक्त, नि.शंक विचरण करती हुई ये अपना किया-धरा किसी और को समर्पित करती चलती हैं, जैसे:

न वह मैंने किया, न यही मैंने किया, अर्थात् मैंने कुछ नही किया। जो कुछ किया विपक्षी दलों ने, विरोधी गुटों ने, विदेशी ताकतो ने किया या फिर हमें छोडकर तमाम-तमाम असामाजिक तत्वों ने!

मैंने तो जो कुछ किया, ठीक किया; आगे भी जो करूँगा, ठीक ही करूँगा। मैंने क्या बुरा किया? (अर्थात् सब अच्छा ही किया) और किया तो किया। (किसी के बाप का क्या जाता है!)

जो किया, उसपर मुझे अफसोस नही, जो करूँगा उसपर भी मुझे अफसोस नही होगा, क्योंकि कर्ता होकर भी मैं कर्ता कहाँ हूँ? मै तो कोरा कागज हूँ। नरक तो तेरा, तेरा और तेरा भी लिखा जायेगा।

इसलिए हे पार्थ! जो गोलियाँ चल रही हैं, उन्हे चलने दो। जो दंगे हो रहे है, उन्हे होने दो, क्योंकि वे सारे फसादों की जड होते हुए भी कोरे हैं। समस्त आरोपों और अभियोगों से युक्त होते हुए भी उन सबसे मुक्त

हैं। इसी मुक्त और निष्काम भाव में ये सभी बारी-बारी से इन कांडों को जघन्य, जर्जर और अमानुषिक बताते हुए इनकी निंदा कर अपने दायित्व से भी मुक्त हो जाते हैं। इस कड़ी भर्त्सना और निंदा-कर्म को ही तू इनके सभी कर्मों में विशिष्ट जान।

हे शोकाकुल पार्थ! सुन, तेरे कितने कुटुंबी मारे गये? नौ? और तेरे? दो। और उस वाले पार्थ के? ग्यारह। बस यही तू भूल करता है। गिनती में नहीं, अति भावुकता में। सुन, कैसा भाई और कैसी भौजाई? न नौ, न दो, न ग्यारह। तू ऐसा सोच कि तेरा कोई कुटुंबी नहीं। किसी का कोई कुटुंबी नहीं। हे पार्थ! अपने को अलग-अलग छोटे कुटुंबों की संकीर्णता में मत बाँध! तू तो सिर्फ विश्व को ही अपना असली कुटुंब मान, बाकी सबको नकली। और इस प्रकार विभिन्न प्रांतों, प्रदेशों में मरते अपने कुटुंबियों (नकली) के चुपचाप अंतिम संस्कार करते हुए अपने धर्म और कर्म में प्रवृत हो।

और इसी प्रकार हे पार्थ! कौन आया, कौन गया; कौन चढा, कौन उतरा—तू इस पचड़े में बिल्कुल मत पड़, क्योंकि यदि कोई गया और कोई आया तो इससे कौन-सा अंतर पड़ा? अर्थात् कुछ नहीं।

जो गया, उसने भी खाया, जो आयेंगे, वे भी खायेंगे, अतः तू भी निर्द्वंद्व भाव से भय-रहित होकर खा।

कौन खा रहा है? कितना खा रहा है? यह सोच-सोचकर मगजमारी करना और सिर धुनना तेरा काम नहीं है, क्योंकि सिर धुनने के अलावा तू और कुछ नहीं कर सकता···कारण? जैसा कि मैंने पहले ही बताया कि हे पार्थ! तू भुनगा है।

कैसा कमीशन? और किसकी धाँधली? कौन-से कमीशन और धाँधली की बात कर रहा है? तू इसे स्पष्ट कर, क्योंकि यहाँ साहित्य, कला, धर्म, विज्ञान और शिक्षा आदि अन्यान्य क्षेत्र हैं और हर क्षेत्र की अपनी-अपनी अनेक धाँधलियाँ हैं। इन धाँधलियों के अंदर भी असंख्य धाँधलियों का निवास है। हे पार्थ! ये संख्यातीत स्कैंडल वाली बातें और रहस्य तेरे जैसे सामान्य, औसत बुद्धिवाले के लिए समझना बड़ा दुष्कर है और समझ में आने पर भी तू बरदाश्त कर पायेगा, इसमें मुझे संदेह है, क्योंकि इस सबके

लिए बड़ा जबरदस्त कलेजा चाहिए और तूने, पता नहीं अपना ई. सी. जी. भी चैक करवाया है या नहीं।

और अंत में, हे मेरे वचनों मे पूरी तरह विमूढ और सुन्न हुए पार्थ ! तू यह भी मत सोच कि यह सब क्या हो रहा है और क्यों हो रहा है। इस प्रश्न को इसी तरह अधर में टँगा रहने दे। तू तो सिर्फ इतना समझ कि सब एक तरफ से खा रहे है और यह सोचता हुआ तू खुद भी खा ! ▭

काटना पागल कुत्ते का उर्फ देखना एक कला फिल्म का

एक शहर मे कुछ पढ़-लिखे लोग रहते थे। एक बार उन लोगों को पागल कुत्ते ने काट लिया। वे लोग बड़े परेशान हुए कि क्या करें? चौदह इंजेक्शन लगवाने के नाम पर उन लोगों की घिग्घी बँध गयी। अत: भागे-भागे वे लोग कुछ सयानो के पास गये। एक-के-बाद-एक छह सयानों ने जवाब दे दिये। *अत मे सातवें सयाने ने माथे पर बल डालकर कहा, 'उपाय है तो,* मगर बहुत कठिन। तुम लोगों से न होगा···'

उन लोगो ने बेसब्री से कहा, 'आप बताइए तो, पागल कुत्ते का काटा क्या नही करता···!'

सयाने ने कहा, 'चाहे चौदह इजेक्शन लगवाओ, चाहे शहर में लगी 'अमुक' कला-फिल्म देख आओ···'

चूँकि वे लोग नादान थे और पागल कुत्ते के काटे हुए भी, अतः इस उपाय पर बहुत खुश हुए और प्रसन्नतापूर्वक 'अमुक' कला-फिल्म देखने चले गये।

लेकिन उन लोगों को यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि उस शहर में किसी को न 'अमुक' कला-फिल्म का नाम मालूम था, न वह जिस हॉल मे लगी थी उस हॉल का, और न वह हॉल कहाँ है उस जगह का ही अता-पता। असल मे उस शहर मे आवारा कुत्ते तो और शहरों जैसे ही थे, पर पागल कुत्ते कम थे। इसलिए न लोगो को ज्यादा काटते थे, न वे लोग कला-फिल्म देखने जाते थे।

खैर, किसी तरह वे लोग उस हॉल मे पहुँच गये, जहाँ अमुक कला-फिल्म चल रही थी। चूँकि किसी को फिल्म के शो का सही समय नही मालूम था, इसलिए उन लोगो को पता नही चल पा रहा था कि वे देर से

पहुँचे है, या जल्दी पहुँचे हैं, या ठीक समय से पहुँचे है। जहाँ तक स्क्रीन का सवाल था, उसपर एक कचरा ढोनेवाली गाडी का दृश्य था। दृश्य यों था कि कचरा ढोनेवाली गाडी बार-बार आती थी और कचरा गिराकर चली जाती थी। अलबत्ता पास खडी एक मुर्गी कचरा टूँगने लगती थी। उन लोगो ने इसे सफाई और तरक्कीपसंद डॉक्यूमेंटरी फिल्म समझा और देश मे मुर्गी तथा कचरे आदि की स्थिति पर बहस करने लगे। पर जब उनकी बहस से तग आकर पीछे की सीटवालो ने उन्हे घुडका, तब उनकी समझ मे आ गया कि 'अमुक' कला-फिलम शुरू हो गयी है। उन्होंने ईश्वर को धन्यवाद दिया, क्योंकि न पीछे की सीटवाले घुडकते, न उन्हे पता चल पाता कि फिल्म शुरू हो गयी है। अस्तु—

इस बीच कचरेवाली गाड़ी सारा कचरा गिरा चुकी थी और स्क्रीन पर दो-तीन मिनट तक बिलकुल अँधेरा हो गया। ये लोग झल्ला उठे—यह भी क्या तमाशा है! अभी शुरू हुए पाँच मिनट भी नही बीते कि मशीन खराब हो गयी इनकी'''चलो, मैनेजर के पास चलते है।

'लेकिन यार, मुर्गी की कुकड़ू-कूँ सुनायी दे रही है।'

'वही तो, इसका मतलब मुर्गी पर्दे पर है, पर दिखाई जो नही पड़ रही, उसे दिखना चाहिए न!'

'आप लोग चुप रहते है या नही?' पीछे की सीटो ने उन्हे फिर घुड़का, 'मशीन में खराबी नहीं है, यह निर्देशक ने जानबूझकर फिल्म में इतनी देर के लिए अँधेरा कर रखा है।'

'लेकिन क्यों?'

'इफेक्ट देने के लिए।'

'कौन-सा इफेक्ट?'

'जौन-सा भी पड़ जाये—कचरे का, मुर्गी का, या दोनो का। टोटल इफेक्ट।'

'हाँ, टोटल इफेक्ट ही होगा', उन लोगो ने एक-दूसरे को समझाया, 'तभी टोटल अँधेरा कर दिया है।'

'इस 'अमुक' कला-फिल्म की फोटोग्राफी के लिए कैमरामैन को इंटर-नेशनल अवॉर्ड मिला है', पीछे वाली सीटों ने आगे वाले नादानों को

समझाया और वे लोग खुश होकर पूरे पर्दे पर फैले घुप्प अँधेरे को देखते रहे। 'सचमुच कमाल की फोटोग्राफी है!'

सीन पलटा। दूर से एक आदमी आता दिखाई दिया। सब लोग सांस रोककर प्रतीक्षा करने लगे। अटकलें लगने लगी। अब शुरू होगी फिल्म। यह रहा फिल्म का हीरो, यही बोलेगा फिल्म का पहला डायलॉग। लेकिन जब चलते-चलते वह आदमी काफी पास आ गया, तो उसकी हुलिया देखकर वे लोग बहुत निराश हुए। फिर भी उन्होंने संतोष किया कि हीरो न सही, हीरो का नौकर ही सही। यही कुछ बोले। मगर वह कुछ बोला ही नही। भकुए की तरह पाँच-दस सेकड खड़ा-खड़ा दर्शकों को घूरता रहा। फिर वापस चला गया, जैसे कोई चौपाया हो, और चलता गया—चलता ही गया।

'येल्लो, मशीन फिर टॉय-टाँय फिस्स!'

'चोप्प! निर्देशक जानबूझकर दिखा रहा है।'

'क्यो?'

'कला-फिल्म पर्दे पर यथार्थ जीवन प्रस्तुत करती है, सो जब तक आदमी सचमुच खेत मे से चला नही जायेगा, कैमरा उसी पर टिका रहेगा।'

'वाह!'

'पर यथार्थ जीवन मे क्या लोग-बाग बोलते नही? यह तो कुछ बोला ही नही!'

'सही, पर जब वह जा रहा था, मुर्गा तो बोला था कुकड़ू-कूँ।'

'यानी कि मुर्गा उसका प्ले-बैक कर रहा है।'

'आप लोग चुप होते है या नही?' पीछे की सीटे गरजीं।

□

दृश्य फिर पलटा। इस बार खेत-खलिहान, गोबर, फिर गोबर, फिर दरबे, नाले-परनाले, गढ़हिया, घूरे, भिनभिनाती मक्खियाँ और इन्ही सबके बीच से हीरोइन अवतरित हुई। धन्य-धन्य भारत का सच्चा दृश्य—अहा! ग्राम-जीवन भी क्या है! बकरी चराती हुई ढोर कन्या···सुन्दर, अति सुन्दर!

'बकरी नही, वह गाय है।'

'धत्त्—गाय इतनी छोटी ?'

'चौपायों, गायों के अंतर्राष्ट्रीय स्तर के अनुपात में भारतीय गायें बकरी के समान ही तो हैं। और नहीं तो क्या ?'

'जय गऊ माता ! गोवध बंद हो !'

'मजाक छोड़ यार ! असल में कैमरामैन फोटोग्राफी के कुछ प्रयोग कर रहा है, गाय और बकरी को लेकर। सुना नहीं उसे अवार्ड मिला है !'

'अरे बहस छोड़ो ! वह देखो, नायिका दर्शकों की तरफ घूमी। कमाल है यार ! उसका चेहरा तो अभी देखा, बिलकुल बकरी जैसा'''।'

'हूँह, क्या बात करता है ! होश में तो है तू ? बकरी गाय-जैसी और नायिका बकरी-जैसी ?'

'नहीं यार, ठीक कह रहा है, बकरी-जैसी ही है, सिर्फ पूँछ नहीं है।'

'हो सकता है, शायद निर्देशक दिखाना चाहता है कि नायिका बकरी की तरह दीन-हीन'''अहा, आँखें देखीं उसकी ? कितनी करुणा !'

'यार, मुझे कुछ शुबहा हो रहा है'''

'क्यों ?'

'यह हम लोग 'अमुक' कला-फिल्म ही देख रहे हैं और ऊटपटाँग चीज तो नहीं ?'

'यार, पागल कुत्ते ने हमको ही तो काटा है, डाइरेक्टर, प्रोड्यूसर वगैरह को तो नहीं न ?'

'नहीं।'

'फिर काहे को हीरोइन बकरी-जैसी, हीरो कछुए-जैसा'''?'

'सो कुछ नहीं, कला-फिल्म का स्तर आम फिल्मों से एकदम अलग होता है। देखता चल, मगज न खराब कर !'

अगला दृश्य सचमुच सुन्दर था। नायक बनाम घूरेसिंह बैठा दर्शकों को पूर्ववत् भकुए की तरह घूरे जा रहा था कि नायिका उसकी रोटी लेकर आयी और बिल्कुल सुस्त, बेदम आवाज में बोली, 'घूरेसिंह ! रोटी खा ले।'

घूरेसिंह कुछ नहीं बोला।

नायिका फिर बोली, 'घूरेसिंह ! रोटी खा ले।' घूरे फिर नहीं बोला। तात्पर्य यह कि नायिका वैसी ही हर थोड़ी देर पर रीं-रीं बीन बजाती रही

कि घूरेसिंह रोटी खा ले और नायक पगुराता रहा।

कुछ देर तो बडा सस्पेंस रहा कि अब ? अब क्या होगा ? लेकिन जब नायक पगुराता ही रह गया तो उन लोगों का दिल किया कि उठकर लगाये दो हाथ कसके, इस घूरे के बच्चे को—'अबे ! खा-न-खा, पर बोल तो फूटे कुछ तेरे मुँह से ! फिलम तो आगे बढ़े !' बहरहाल दर्शकों ने सिर पीट लिया, पर घूरे टस-से-मस न हुआ। वही तमाशा हो गया कि एक चिड़िया उड़ी फुर्र—घूरेसिंह रोटी खा ले, फिर एक चिड़िया उड़ी फुर्र—घूरे रोटी खा ले, फिर एक चिडिया उड़ी फुर्र···न कहानी को बढ़ना था न फिल्म को। घूरेसिंह 'अमुक' कला-फिल्म के माध्यम से दर्शकों को बेवकूफ बनाता रहा।

दृश्य पलटा और अँधेरा छा गया। फिर वही टोटल इफेक्ट। दर्शकों के हाथों के तोते उड गये।

'यार ! क्या फिल्म खत्म हो गयी है ?'

'क्या जाने, हो गयी होगी।'

'पर वह तो कुछ बोला ही नहीं···?'

'न सही, मैंने सुना है बोलने से कला-फिल्म की साख कम हो जाती है।'

'नायिका भी न हँसी, न रोयी, न उठी, न बैठी···'

'हँसने-रोने से फिल्म के कमर्शियल हो जाने का खतरा रहता है···'

'पर तब यह फिल्म चलेगी कैसे ?'

'नहीं चलेगी, बस और क्या ?'

'लोग देखेंगे कैसे ?'

'नहीं देखेंगे, और क्या ? और फिर लोग-बाग देख ही लेंगे, तो इसमें और आम फिल्म में फर्क ही क्या रह जाएगा ?'

'लेकिन तब आखिर यह बनी क्यों है ?'

'बनी तो है पुरस्कार पाने के लिए।'

'और हम क्यों देख रहे हैं ?'

'हमारी बात छोड़ो। हमें तो पागल कुत्ते ने काट खाया है न !"　▭

अजगर करे न चाकरी

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम !!

प्रस्तुत दोहा मुझे तीस से भी ज्यादा वर्षों से विशेष प्रिय है, अर्थात् तब से, जब इसका भावार्थ भी समझ में नहीं आया था। और आता भी कहाँ से ? हमारी हिंदी पढाने वाली अध्यापिका ने कभी हमें बताया ही नहीं ! दरअसल उन दिनों इंग्लिश मीडियम न होने की वजह से हिंदी पढाने-समझाने में काफी दिक्कतें भी पेश आया करती थीं। आज की तरह थोड़े ही कि 'मार्ग' का अर्थ पूछते ही झट् से 'रोड' लिख दिया और 'त्रुटि' का अर्थ पूछते ही 'मिस्टेक' ! तो भई, आज जमाना कहाँ से कहाँ पहुँच गया है; हिंदी की पढ़ाई भी, जाहिर है कि बहुत प्रगति कर गयी है—आइ मीन प्रोग्रेस !

लेकिन जहाँ तक हमारी उन अध्यापिका का सवाल है, उनके सामने हिंदी-अंग्रेजी की समस्या नहीं थी। उन्हें स्वयं ही इस पंक्ति का भावार्थ, गूढ़ार्थ नहीं आता था, और इसमें उनका दोष भी नहीं था। हमने विश्वस्त सूत्रों से पता लगाया था कि उनकी अध्यापिका और उन अध्यापिका की अध्यापिका को भी इस दोहे का गूढ़ार्थ नहीं मालूम था। इसलिए गूढ़ार्थ न समझ पाने की यह सुखद परम्परा पीढ़ी-दर-पीढ़ी संक्रमित होती चली गयी। विद्यार्थी और शिक्षक बड़े फख्र से इस गौरवशाली परम्परा को ढोते हुए गूढार्थ समझने-समझाने की फजीहत से बचे रहे।

उन दिनों हम पाँचवीं में थे। मुझे अच्छी तरह याद है हमारी हिंदी की ये वाली अध्यापिका थकी, अलसाई-सी कक्षा में आतीं। हमें अजगर, पंछी और मलूका जैसे कठिन शब्दों के अर्थ लिखवातीं और उसके बाद बड़े प्रेम से पूछतीं कि बच्चो, अब तो तुम सबको इस दोहे का अर्थ समझ में आ

ही गया होगा ? और हमारे 'हाँ' कहते ही परम संतुष्ट भाव से क्लास के बाहर, धूप में कुर्सी डलवा, निकट भविष्य मे पैदा होने वाले अपने किसी बच्चे का मोजा-टोपा बुनने लगती। शुद्ध, सुसस्कृत शब्दों में कहे तो भारत के एक अदद भावी नागरिक का भविष्य, रंगीन मोजे और फुलनेदार टोपे के रूप मे सँवरने लगता। और ऐसा वे हर साल करतीं। हम सभी बच्चो को भी उनका धूप मे बैठकर फुलनेदार टोपा और मोजा बुनना क्लास मे पढाने से ज्यादा अच्छा लगता।

तीसरे महीने से तिमाही परीक्षा शुरु हो जाती। हिंदी के पर्चे मे पहली व्याख्या यही आती कि प्रसग का निर्देश देते हुए निम्नलिखित दोहे की व्याख्या कीजिए—

अजगर करै न चाकरी, पछी करै न काम···

हम सिर्फ टोपे-मोजे वाला सदर्भ काटकर बाकी व्याख्या ठीक जैसी अध्यापिका ने बतायी होती, लिख आते और माकूल नबरो मे पास हो जाते। इसके बाद हमारी अध्यापिका तीन महीने की मैटरनिटी लीव पर चली जाती और छमाही परीक्षा आ जाती। इस बार पर्चा दूसरी अध्यापिका ने बनाया होता, लेकिन व्याख्या इसी दोहे की आती। और तो और, प्राइमरी की वार्षिक परीक्षा मे जबकि पर्चा बाहर से बनकर आया होता, तब भी हिंदी के पर्चे मे, बिनाका गीतमाला की आखिरी पायदान की तरह, यही दोहा टॉप पर जाता। गरज यह कि साल-दर-साल पढाये चाहे जो, इपॉर्टेंट का निशान इसी दोहे पर लगता। सदर्भ-सहित व्याख्या इसी दोहे की पूछी जाती। भावार्थ इसी का तलब किया जाता, जैसे सारा हिंदुस्तान इसी दोहे का गूढार्थ और भावार्थ जानने के लिए बेताब हो।

सारे हिंदुस्तान की छोड़िए, मै खुद इस दोहे पर दिलोजान से फिदा थी। अपनी उक्त अध्यापिका द्वारा यह दोहा पढाये जाने के बाद, महीनो मै इस दोहे के जबरदस्त प्रभाव की चपेट मे थी। जहाँ भी होती, पड़ी रहती। अपनी जगह से टस-से-मस होने को दिल ही नही चाहता। माँ कोई काम बताती, बैठी-बैठी पेटदर्द का बहाना मार देती। भाई-बहिन कुछ कहते तो कटखनी बिल्ली-सी गुर्रा देती। सिर्फ अजगरी मुद्रा मे बैठी, खाने-नाश्ते की घात लगाये रहती। वह मेरे बचपन का स्वर्णकाल था। अब भी सोचती

हूँ तो रश्क होता है। लेकिन अच्छे दिन ज्यादा साथ कहाँ देते हैं ! वही मेरे साथ भी हुआ। एक दिन माँ का मन्न जवाब दे गया। उन्होंने संटी उठा ली। सटी देखते ही दोहे का भूत भाग खड़ा हुआ।

लेकिन कुछ भी हो, एक मेरी माँ के सटी उठा लेने भर से सारा हिंदुस्तान थोड़े ही डर जाता ! इसलिए इस दोहे की पॉप्युलरिटी में आज तक कोई फर्क नही आया है। इसकी जबरदस्त लोकप्रियता 'भजनतीर्थो' के सारे रेकॉर्ड तोड़ रही है। तो शताब्दियों से इस दोहे के सुपरहिट होने का कारण सिर्फ यह है कि इस दोहे का 'मॉरल' सबसे ज्यादा सहूलियत से जीवन मे उतारा जा सकता है। हमारे सारे लोकाचार, धर्मदर्शन और मान्यताएँ बड़े आराम से इसकी चिकनी सतह पर स्केटिंग कर सकती है। मुझे लगता है 'पहले आप-पहले आप' की तहजीब की आड़ मे भी कही-कही नीयत यही होती है कि पहले आप ही जहमत उठाइए, हम थोडी देर और टरक ले।

सो यह सिर्फ दोहा नहीं, एक आदोलन रहा, जिसका गूढार्थ समझे बिना उसे हाथो-हाथ उठा लिया गया (ज्यादातर आदोलनो के साथ होता भी यही है !); इसे सिर्फ पढ़ा-पढाया ही नही गया, बल्कि लगे-हाथो जीवन मे भी उतार लिया गया। निर्णय ले लिया गया कि जब अजगर, पछी करै न काम'''तो कोई करो न काम। काम मत करो, यानी आराम करो। आराम का मतलब ही है आ राम ! 'जिसे ढूँढते थे गली-गली, वो मकान के पिछवाड़े मिली।' यही तो चरम सुख की स्थिति है। अरे बावलो ! कहाँ-कहाँ राम को ढूँढते फिरते हो ? जो राम आराम मे है, वो और कहाँ ? वैसे भी राम घट-घट वासी है। लेकिन जिस प्रकार भारत की अस्सी प्रतिशत जनता गाँवो मे निवास करती है, उसी प्रकार आराम का दो-तिहाई हिस्सा तो राम को ही समर्पित है, और असल मे तो राम-राम की रटन-पुकार लगायी ही इसलिए जाती है कि कुछ आराम मिले। तो आ, राम ! धन-धान्य, कोटा-परमिट, लाटरी-सट्टा—जिस रूप मे भी आना चाहे, आ ! सब तेरे ही रूप हैं।

और वह जो बीच मे 'आराम हराम है' वाला नारा लगाया जाने लगा था न, मुझे लगता है, उसकी पूरी-की-पूरी जिम्मेदारी कुछ लापरवाह लोगों के गलत हिज्जो को जाती है—स्पेलिंग मिस्टेक ! दरअसल यह नारा अपने

शुद्ध सांस्कृतिक रूप में 'आराम ही राम है' रहा होगा, लेकिन कालांतर में कुछ तो लोगों की लापरवाही, कुछ नासमझीवश 'ही' का 'ह' हो गया होगा, और इस प्रकार 'आराम ही राम है' का शुद्ध रूप बिगड़ते-बिगड़ते 'आराम हराम है' के विकृत रूप को प्राप्त हो गया होगा। जाहिर है कि इस उलटफेर के पीछे भी गूढ़ार्थ न समझ पाने की अपनी परम्परा ही काम कर रही है।

जो भी हो, कुल मिलाकर दाद देनी पड़ेगी संत मलूकदासजी की दूरदर्शिता को कि पुरखों के लिफाफे से लेकर संततियों के मजमून तक भाँप और बाँच गये। अपने तो अपने, आने वाले जमाने तक की नब्ज पकड़ ली थी, जो आज के कवि-कथाकार, निर्माता-निर्देशक और दूरदर्शन के स्पांसर्ड प्रोग्राम अभी तक तलाश ही रहे हैं।

शायद मलूकदासजी जानते थे कि आने वाली संततियों का गूढ़ार्थ से कुछ लेना-देना नहीं होगा। वे नीति-वाक्यों के ऊपर से सहूलियत की मलाई उतार लेने की कला में पारंगत होंगी। उन्हें मालूम था कि आने वाली संतानें ऐसी पंक्तियों के कैसेट बनवायेंगी, उनपर वाहवाही देंगी, अपना मनबहलाव करेंगी और वक्त-जरूरत उनसे अपने व्यक्तित्व और चरित्र के ढोल के पोल को ढाँपने का काम लिया करेंगी। और इस तरह गूढ़ार्थ न समझने-समझाने की यह परम्परा बदस्तूर चालू रहेगी। ▭

देश-सेवा के अखाड़े में···

यह खबर चारों तरफ आग की तरह फैल गयी कि मैं देश-सेवा के लिए उतरने वाला हूँ। जिसने सुना, भागा आया और मेरे निर्णय की दाद दी। बधाई-संदेशों का तांता लग गया—'सुना, आप देश-सेवा पर उतर रहे हैं, ईश्वर देश का भला करे !'

प्रस्ताव पर प्रस्ताव आने लगे कि वाह द वे, शुरुआत कहाँ से कर रहे हैं ? कौन-सा एरिया चुन रहे हैं ? हमारे अंचल से करिए न ! बहुत स्कोप है। हेलीपैंड बनकर विकसित होने लायक इफरात जमीन पड़ी है। आबो-हवा भी स्वास्थ्यप्रद है। ईश्वर की दया से गरीबी, भुखमरी और अशिक्षा आदि किसी बात की कमी नहीं। लोग भी सीधे-सादे नादान किस्म के हैं—आँखें मूँदकर माई-बाप का रिश्ता जोड़ लेने वाले। अगले दस सालों तक तो बहकने की कोई गुंजाइश नहीं। वर्षों सुख-शांति अमन-चैन से गुजार सकेंगे, आप 'माई-बाप', इन देश के लालों के साथ। ये हमेशा रोटी के लाले पड़े रहने पर भी, कभी शिकवे-शिकायत नहीं करते। हर हाल में मुँह सिलकर रहने की जबरदस्त ट्रेनिंग मिली है, इन्हें।

मैंने सोचा, जगहें तो सारी एक-सी हैं; ऐसे स्कोप कहाँ नहीं हैं ! लेकिन जब कहा जा रहा है, ऑफर मिला है तो उन्हीं के एरिया से शुरुआत हो जाए। मेरा निश्चय सुनते ही प्रेस वाले दौड़े आये और आग की तरह फैलती इस खबर में घी डाल गये।

शाम को उस एरिया का सबसे बड़ा कॉण्ट्रेक्टर आया और सलाम करके बोला—

'बंगला कहाँ छवेगा ?'

मैं हैरान। कैसा बंगला ? अभी देश-सेवा तो हुई नहीं कुछ, उससे पहले बंगला छवाने आ गया !

उसने उसी अदब-भरी मुस्तैदी से कहा—'वही तो—जब तक बंगला नही छवेगा, देश-सेवा, जनहित जैसे महान् काम कहाँ बैठकर करेंगे आप? लोक-सेवक लोग आकर कहाँ ठहरेंगे? मुलाकाती कहाँ लाइन लगाएँगे? संतरी कहाँ हड़केगा उन्हे?' फूँस की छत या टीन के शेड के नीचे मुलाकाती नही इकट्ठे होते। कोई बेवकूफ थोडी है। सीधी-सी बात है, जो अपने सिर पर छत नही खडी कर पाया, वह उनके सिरों पर साया कहाँ से करेगा? अपना नहीं तो कम-से-कम अपने दु:ख-दर्द सुनाने आने वालों का तो खयाल कीजिए।'

मैंने कहा—'तब फिर छवा दीजिए, जहाँ ठीक समझिए।'

वह खुश हो गया। वहीं-का-वहीं बैठकर नक्शा वगैरह खीचकर वह बोला—'गैराज एक रहेगा या दो?'

मैंने कहा—'अरे यार! पहले कार तो हो···!'

उसने कहा—'आपकी न सही, मुलाकातियों की तो होगी! और फिर यों समझ लीजिए कि बप्पा साहब को देशहित के पेवेलियन में कुल छ: महीने ही गुजरे है और ऑलरेडी दोनो बेटों की ट्रकों और स्टेशन-वैगनों के लिए जगह की कमी पड रही है।'

मैंने आज्ञाकारी बच्चे की तरह कहा—'तब जैसा आप लोग उचित समझिए।'

कॉण्ट्रैक्टर खुश हो गया—'ऐसा करते हैं, एक गेराज बना देंगे और दो की जगह छोड़ देते है···पोर्च पोर्टिको आलीशान बनायेंगे, नहीं तो संतरी टुटपुँजिए मुलाकातियों को रुआब से दुतकारेगा कैसे? संतरी जितना कटखना होता है, आदमी उतना ही पहुँच वाला माना जाता है। ···अच्छा मैं चलता हूँ। बगले का आहाता, लॉन सीचने, साग-सब्जी, फूल-पत्ती की क्यारी सँवारने के लिए मेरा एक आदमी है, बड़ा नेक और विश्वासपात्र। इस काम के लिए उसी को रखियेगा, जनहित जैसे काम करने जा रहे है तो इस एरिया के नक्कालो से सावधान रहने की जरूरत है।'

शाम को उस एरिया के व्यापारी-संगठन का प्रमुख आया और आजिजी से बोला—'देश-सेवियों का भोजन तो अत्यन्त संतुलित और नियमित होता है। बप्पा साहब तो अनाज को हाथ नहीं लगाते थे और देख लीजिए, काठी

ऐसी है कि सत्तर की उम्र में सत्ताइस वालों को बगले में द[illegible]। अखाड़ेबाजों-सा सधा और तना हुआ शरीर···'सिर्फ मीनू की बदौलत ही तो ! वाइ द वे आपका मीनू ?'

मैंने झेपकर कहा—'अभी बनाया नही···।'

उसने ताकीद की—'तो झटपट बना डालिए—खानपान की दुरस्ती पहले। आप जानो रूखी-सूखी वाले महात्मा को कौन पूछता है ? मेरा तो आज तक किसी नमक-रोटी खाने वाली महान् आत्मा से साबका पड़ा नही। मेरे देखते-देखते कितने ही जनसेवी नमक, रोटी, प्याज से शुरू होकर फल, दूध और सूखे मेवों वाले मीनू पर स्थानांतरित हो आज तक स्वास्थ्य-लाभ कर रहे हैं।'

मैंने सकोच से कहा—'सूखे मेवे तो गरिष्ठ होगे। सोचता हूँ, शुरू-शुरू में रोटी-दाल ही ठीक रहेगा।'

उसने फौरन टोककर कहा—'देखिये, आप दाल-रोटी खाइये या नमक-रोटी, लेकिन एक बात समझ लीजिए—इधर भड़काने वाले बहुत हैं—घर-घर यह बात पहुँच जाएगी कि जो खुद नमक-रोटी खाता है वह हमे मालपुए कहाँ से खिलायेगा ?—और इस एरिया के लोग भोले-भाले, नादान हैं।'

मैंने कहा—'आपकी बात ठीक है, लेकिन मेवे बहुत महँगे भी तो हैं !'

वह बेतकल्लुफी से बोला—'क्यों शर्मिदा कर रहे हैं आप ? आप इस एरिया के जनसेवक होकर आ रहे हैं और खरीदकर मेवे खायेंगे ? लानत नहीं होगी इस जमीन के बाशिंदों के लिए ? आखिर हम किस मर्ज की दवा हैं ? आज ही सूखे मेवों का एक टोकरा भेजे देते हैं।'

मैंने जल्दी से कहा—'नहीं-नहीं, आपके मेवे···'

उन्होंने बात काटकर कहा—'उन्हें मेरे मेवे नहीं, देश-सेवा के मेवे समझकर खाइएगा, बस ! वैसे भी आप चखकर देखिएगा तब समझिएगा कि खरीदकर खाये मेवों में वो स्वाद और लज्जत कहाँ जो देश-सेवा से प्राप्त मेवे में होती है ! पैसों की चिन्ता मत कीजिएगा ! मुझे आपपर भरोसा है; मेरे पैसे कहीं नहीं जाएँगे। सब वसूल हो जाएँगे।'

अगले दिन उस एरिया का नामी-गिरामी दर्जी आया और बड़े प्यार से मुझे अपने फीते मे जकड़ते हुए बोला—'आप फिक्र न कीजिए। मुझे सब

अदाज है। वप्पा साहब से मैंने पहली बार नाप लेते वक्त ही कह दिया था कि अगली अचकन और पाजामे के लिए कम-से-कम पौना-पौना मीटर कपडा ज्यादा लाइयेगा। और वही हुआ ! वैसे ही आप भी करियेगा··· लिबास तो यही रखेंगे न ! रखना भी चाहिए। शुभ्र, स्वच्छ बकुल-पंखी—अर्थात् बगुले की तरह सफेद झक्काक। हर मौके और हर जगह के लिए पूरी तरह दुरुस्त। जमाने की हवा मर्द हो या गर्म, ये वस्त्र पूरी तरह वातानुकूलित रहते हैं। समझ लीजिए, लिफाफे हैं जो अपना मजमून बदलते रहते है। कोई बाहर से इनके अदर का मजमून भाँप नही सकता। और इधर तो इस लिवास की महिमा और बढ गयी है। इतिहास बताता है कि पहले इस लिबास को महान् लोग पहनते थे, अब इसे जो पहन लेता है तुरत-फुरत महान् हो जाता है।'

अगले दिन सुबह-सुबह तेल-पिलाई लाठी और बुल-वर्करी सीने वाला एक मुच्छड आया और सलाम ठोककर बोला—'मैं संतरी हूँ, सिर्फ देश-सेवियो के पोर्टिको और पोर्चो के लिए समर्पित। अब तक की सारी जिंदगी, समझ लीजिए, देश-सेवी फाटको और पोर्चो पर ही कुर्बान की है। खिदमत मे कोई कोर-कसर नही रहेगी, इसका भरोसा रखे। वप्पा साहब ने तो पूरी हक-हुकूमत दे रखी थी। जिसे चाहता अन्दर जाने देता, जिसे चाहता चार धक्के दे, कॉलर पकड़, बाहर कर देता। वप्पा साहब कभी दखल न देते थे। —अहा, क्या आदमी थे ! कभी पूछा-पैरवी की ही नही। मेरी वजह से कभी टुटपुंजिए, फटेहाल मुलाकाती उनके पास फटक ही नही पाए। समझ लीजिए, वे तो नाम के संतरी थे। असली संतरी तो मैं यानी उनका संतरी ही हुआ करता था। अब आपको क्या बताना, समझ लीजिए एक तरह से पूरे देश की बागडोर संतरियो के हाथ मे ही होती है···अच्छा चलता हूँ। फाटक, पोर्टिको तैयार हो जाए तो बुलवा लीजिएगा। ये रहा मेरा विजिटिंग कार्ड। मेरे सिवा कोई और यहाँ संतरी न होने पाये, इसका खयाल रखिएगा। यह ओहदा जिस-तिस को सौंपने लायक नहीं। बड़ी जिम्मेदारी, बड़े जोखम का काम है। हाँ, साँझ को इस इलाके के कुछ और नामी-गिरामी, तावेदार लोग आपसे दुआ-सलाम किया चाहते है जिससे आपको पूरा यत्मीनान हो सके।'

शाम को, सर पे टोपी लाल, गले मे रेशम का रूमाल बाँधे वे लोग भी आये और मुझे पूरा भरोसा दिला गये कि 'हमारे रहते इस पूरे इलाके-भर मे किसी की हिम्मत नही जो आपके काम में दखल दे। न आपकी तरफ कोई आँख उठा सकता है, न कोई इन्क्वायरी बैठ सकती है। हम जो हैं! आप तो बस खाइये और चैन से सोते हुए देश की खुशहाली का सपना देखिये। किसी की मजाल नही जो कोई रोड़ा अटकाये! अटकाये तो हमें तलब कीजिएगा। इसी तरह हमें पूरा भरोसा है कि आपके रहते हमपर आँच न आने पायेगी। है कि नही? न हमारा काम रुके, न आपका। बप्पा साहब जब तक रहे अपनी बात रखी, हम निर्द्वंद्व घूमते रहे। अब यह जिम्मेदारी आप पर। आप अपना हाथ हमारे सर पे रख दें तो हमें भी इत्मीनान हो जाये।'

मैंने ससंकोच उन्हें समझाने की कोशिश की—'लगता है आप लोगों को कुछ गलतफहमी हो गयी है—मैं तो यहाँ देश-सेवा के इरादे से आया हूँ···।'

उन्होंने फौरन कहा—'लीजिए, तो हम कौन-से देश के बाहर हैं? हम भी तो उसी देश के वासी हैं जिस देश में गंगा बहती है, प्रदूषण की। हमें कोई गलतफहमी नहीं जी! और एक बात आपको भी याद दिला दें कि आप भी किसी गलतफहमी मे न पडिएगा, यह इलाका जितना आपका है उतना ही हमारा भी। इतना ध्यान रखिएगा, देश-सेवा के क्षेत्र मे रहकर हमारे जैसे देशवासियों से द्रोह न मोल लीजिएगा! बाकी जिम्मेदारी हमारी। न वोट की कमी होने देंगे न नोट की। आप चैन से सामाजिक, आर्थिक क्षेत्र के पिछड़े हुए तमाम काम कीजिए, चाहे काम तमाम कीजिए।'

इस प्रकार धमकी-भरे आश्वासन और आश्वासन-भरी धमकियाँ देते हुए भूतपूर्व मंतरी के संतरी और उसके बिरादरों ने अपने-अपने क्षेत्रों को गमन किया और उस विचारोत्तेजक धमकी से प्रेरित हुआ मैं, ओ मेरे क्षेत्रवासियो, आपके नाम यह संदेशनुमा धमकी जारी करता हूँ कि चूंकि मुझे अब कुछ भरोसेमद साथी मिल गये हैं, अत: मैं बेखौफ, बेहिचक आपके क्षेत्र की सेवा के अखाड़े में कूदने वाला हूँ। सावधान! ▭

कुछ अदद जाहिलों के साथ

हमारे घर के अगल-बगल, इधर-उधर और चारों तरफ जो लोग रहते है, वे काफी गँवार और मूर्ख किस्म के लोग है। उन्हें ऊँची-ऊँची बातों से कोई सरोकार ही नही। न उन्होने कोई अमरीकी 'बेस्ट सेलर' पढ़ी होती है, न हिंदी की कोई चर्चित कृति ही (जिससे उन दोनों की परस्पर समताओ-विभिन्नताओ पर प्रामाणिक वक्तव्य दे सके या कुछ चौकाने वाले तथ्य ही), न उन्होने एटी-ड्रामा के बारे में सुना होता है, न कोई आला दर्जे की कला या समांतर फिल्म ही देखी होती है।

यूँ देखी किसी ने नही होती, पर अखबारों और आकाशवाणी तथा दूरदर्शन के समाचारो से उनका नाम तो जान लेना चाहिए। और तो और, उन्होने किसी बड़े साहित्यिक, दार्शनिक या नेता का नाम तक नही सुना होता। पूछिए, सुकरात कौन थे? उन्होंने किसका प्याला पिया? या ईसा कैसे महान् हुए? तो चिढते हुए कहेंगे, 'हमारा वक्त मत बरबाद कीजिए, हमें रोटी और चीनी का जुगाड बिठाने जाना है।'

हो गयी छुट्टी! बस तबीयत भन्ना जाती है। हर समय बस यही नून-तेल-लकड़ी का रोना रोते जाना। दुनिया कहाँ-से-कहाँ पहुँच गयी है, लेकिन ये है कि वही-के-वहीं, एक के बाद दूसरे क्यू मे लगते जा रहे हैं। किसी बात की फुरसत ही नही। मैंने उन्हे कई बार समझाने की कोशिश की कि हमारा देश एक महान् देश है। राम, कृष्ण, गौतम और गाधी का देश है। तो—महान् देश के युवक,

समृद्ध देश को करो,

बढे चलो, बढे चलो। (आँखे मूँदकर)

वे चिढकर बोले कि क्यू आगे बढ़ता कहाँ है? आधे के बाद ही तो राशन-पानी खतम हो जाता है, दुकान का। मैं उन्हे समझाती हूँ, 'अच्छा

बताइए, ईसा कैसे महान् बने थे ?'

जाहिर है कि उन्हें नहीं मालूम। इसलिए मैं ही बताती हूँ, 'सूली चढ़कर न ! तो आप कैसे महान् बनेंगे ?···सूली ही चढ़कर।' (वयस्क-शिक्षा का पहला पाठ)

तो, रोना कभी नहीं रोना, नित महान् बनने की ओर अग्रसर होना; इस तरह मैंने उन्हें महान् बनने के, देश की साख और प्रतिष्ठा बनाये रखने के कई और नुस्खे बताये। दादू, नानक और कबीर की परम्परा का हवाला दिया कि 'मानुष जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय।' अरे मनुष्य का जन्म पाया है, तो इसे सार्थक कीजिए ! सिर्फ खाना और सोना, यह भी कोई जिंदगी है ? जानवरों की तरह···

वे फिर बिगड़ गये, 'कौन चैन से खाता-सोता है, जानवरों की तरह ? वे तो हमसे लाख गुना अच्छे हैं। यहाँ-वहाँ झपट्टा मार, जूठी पत्तलों पर धावा बोल, भूख शांत कर लेते हैं···हमारे कहाँ ऐसे भाग्य ?'

हमने कहा, 'छि-छि, ऐसा न कहिए। चौरासी लाख जन्मों के बाद यह जन्म मिला है आपको।'

वे कुढ़े, 'चलो यही तसल्ली है कि अगले चौरासी लाख जन्मों में कुछ चैन से रह सकेंगे। इस तरह रात-दिन खून तो नहीं जलाना पड़ेगा।'

'खून के अलावा और कौन-सा ईंधन इस्तेमाल करते हैं आप लोग ?'

'पहले गैस इस्तेमाल करते हैं, क्राइसिस होने पर गैस खतम हो जाती है, तो केरोसीन; केरोसीन भी नहीं मिलता, तो पत्थर का कोयला, वह भी नहीं मिलता, तो क्रमशः लकड़ी का कोयला, लकड़ी, उपले आदि कुछ भी। पर आजकल कुछ भी नहीं मिल रहा।'

बस यही सब घटिया स्तर की बातें मुझे बोर करके रख देती है। अपना तो भतीजा इस महकमे में है, ईश्वर की दया से। जरूरत से पहले ही दो-चार बोरियाँ डलवा जाता है। सो ऊँची-ऊँची बातें ही सोचती और करती हूँ। विचार हमेशा ऊँचे ही रहे। समाज-सेवा, साहित्य-सेवा; ऊपर से सब आप लोगों की दुआ से। हृदय सबों का द्रवित हो आया तो अंदर से दो-दो, तीन-तीन कोयले बँटवा दिये, फिर हँसकर पूछा, 'बस ना, अब तो रातों की नींद नहीं हराम होगी आप लोगों की ?'

'रातो की नीद ? वह तो बिजली ने हराम कर रखी है। वरना हम तो भूखे पेट भी सो जाने के अभ्यस्त हैं। जरा नीद लगी नही कि बिजली गायब, पखा बद, अब सारी रात उमस-गर्मी और मच्छरो के बीच करवटें बदल-बदलकर, उठ-उठकर सुराही से पानी पीते रहो। जानवर तो कही भी सड़क-फुटपाथ पर पड़ रहते हैं। उनके पास ये दरबेनुमा घर जो नहीं होते—काश ! हम जानवर होते !'

छिः-छिः, छि-छि. ! पशु-धर्म को मनुष्य-धर्म से बेहतर सिद्ध करने पर तुले हुए ये अज्ञानी। इस धरती पर मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ही है। ज्ञान होता तो हर महकमे वाले से थोड़ी जान-पहचान बनाये रखते। लेकिन इनके तो चारो ओर अज्ञान का अंधकार व्याप्त है।

'सो तो है ही,' वे लोग सोत्साह बोले, 'रात-बिरात बाजार में सौदा-सुलुफ खरीद रहे है और भक्क से पूरी सड़क की बत्ती गायब। पूरा बाजार बेजार। हाथ की चीज हाथ मे और हाथ सूझता ही नही। थैला लिये जहाँ-के-तहाँ खडे इतजार…इतजाऽर…इंतजाऽर…। उधर चोर-उचक्के भी इसी का इंतजार करते रहते हैं न।'

वे लोग अपने घटिया स्तर के मजाक पर खुद ही हंसने लगे। लेकिन मैं अदर-ही-अदर दुःखी हो गयी, यह सोचकर कि ये नादान सिर्फ बाहरी अंधकार के लिए परेशान है, जो कि सिर्फ कुछ 'वॉट' के बल्वों के लिए है। ये अपने अदर का अधकार नही देख रहे।

इन्हे नही मालूम कि हम इन छोटी-छोटी बातो पर परेशान होने के लिए जन्मे ही नही। ये तो नितांत ओछी नित्यप्रति की व्यावहारिक समस्याएँ है। इनपर किसी महापुरुष ने आज तक ध्यान दिया है ? इसे किसी बडी हस्ती ने कभी महत्त्वपूर्ण माना है ? कितने बड़े-बडे सिद्धांत प्रतिपादित होने है। कितनी बडी-बड़ी समस्याओ के समाधान ढूँढने हैं। मनुष्य चाँद पर पुरातात्त्विक खुदाई वर्षो पहले कर चुका। इतना महत्त्वपूर्ण सूर्यग्रहण लग चुका। और तो और, कुछ और ग्रहो मे बिजली के होने की भी नयी खोज की गई। अद्‌भुत…अति अद्‌भुत…।

लेकिन इन नादानो को कुछ खबर ही नही। मैंने समझाना चाहा कि सूर्यग्रहण से क्या-क्या हानियाँ हो सकती थी, मालूम है ?'

'मालूम क्या होनी थी ? वह तो आँख के सामने ही आया है। खग्रास देश-भर की चीनी ही निगल गया। चाय-चीनी के लाले पड़े है।'

मैंने उन्हे समझाया कि चीनी को खग्रास नही निगल गया, कुछ गोदामो मे भूल से बद हो गयी है। मैने संबंधित महकमे को फोन भी किया था। उन्होने बताया कि गोदामों की चाभी गुम हो गई है। पिछली सरकार ऐसी ही भुलक्कड़ थी न ! क्या किया जाये ! अब हम-तुम चाय का पानी खौला रहे हैं और गोदामों की चाभी खो जाये !

वे एक-दूसरे को इशारा करते हुए कुढ़कर बोले, 'सब बकवास है !'

हद हो गई ! यानी कोई बात ही नही समझते। शिक्षा, ज्ञान और नीति की बातें उनके पल्ले कतई पड़ ही नही रही थी। निराश स्वर मे मैंने पूछा, 'शायद आप लोग अशिक्षित ही रह गये !'

'वही तो, हमारे माँ-बापों ने बड़ी कोशिश की, पर हमे किसी स्कूल में एडमीशन ही नही मिला'''सीट ही नहीं थी न !'

साबका बुद्धिजीवियों से

सुनिए ! क्या आपने बुद्धिजीवी देखा है ?

मैंने देखा है…नहीं, देखे हैं।

आप कहेंगे गप्प; एक साथ, एक जगह पर एक से ज्यादा की संख्या में ये जीव सरवाइव कर ही नहीं सकते (जिस तरह एक म्यान में दो तलवारें)।

बस, बुद्धिजीवियों के विषय में चली आती ऐसी ही धारणाओं और सच्ची-झूठी अफवाहों ने मुझे इस विषय पर प्रामाणिक शोध करने की प्रेरणा दी। कहना न होगा कि इस 'स्कूप' का मैटर मैंने बड़ा जोखिम उठाकर इकट्ठा किया है। प्रस्तुत है, इन्हीं रोचक, रोमांचक तथ्यों का सिलेसिलेवार ब्यौरा :

बुद्धिजीवी भारत के ही नहीं, विश्व के विचित्रतम जीव-जंतुओं में से एक माना जाता है। इसकी विचित्र गतिविधियों, प्रकृति तथा कार्यकलापों को लेकर जहाँ सभ्य-समाज इनका सामना करने में घबराता है, वहीं इन्हें लेकर तरह-तरह की जिज्ञासाएँ और कौतूहल भी पाले रहता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि लोग कभी मौका पड़ने पर बुद्धिजीवी को पहचान-परख सकें तथा तदनुरूप आचरण कर सकें।

सबसे पहले तो मैं आपको यह बता दूँ कि बुद्धिजीवी, जैसा कि आम-तौर पर लोग समझते हैं, सिर्फ एक नस्ल या जाति के नहीं होते बल्कि गैंडों, चीतों और साँपों की तरह इनकी अनेक नस्लें, जातियाँ और विजातियाँ होती हैं। इनमें से हम कुछ प्रमुख नस्लों और जातियों का वर्णन ही करेंगे।

जैसे कि नंबर एक, बुद्धिजीवियों के सिर पर सींग नहीं होते (कम-से-कम दिखते तो नहीं ही)। इसके लिए मैंने कई बुद्धिजीवियों के बिलकुल नजदीक से गुजरने और उन्हें सिर से पाँव तक ध्यान से घूरने का खतरा

उठाया है। उनके सींग होते तो वे मुझे मारते जरूर, छोड़ते किसको—हाँ, एक बात का शक बरकरार है कि हो सकता है, वे अपने सींग लोगों के सामने उजागर करना नही चाहते और इसीलिए उन्हें काफी लम्बे बालों में छिपाकर रखते है। मैंने बहुत कोशिश की कि एकाध के सिर पर हाथ फेर-कर इसका सही अंदाजा लगा सकूँ, लेकिन हिम्मत नही पड़ी।

नंबर दो, देखने मे वे काफी कुछ हम-आप जैसे ही दिखते है (कुछेक नस्लों को छोड़कर)। आपको पता भी न चलेगा कि आप इस अनोखे जीव के पास से होकर गुजर गये। लेकिन अगर आप उन्हे थोड़ी देर तक सुनते या देखते रहिए (ज्यादा देर तक तो आप उन्हें देख, सुन या बर्दाश्त कर सकते ही नही) तो आपको खुद-ब-खुद यह अहसास हो जाएगा कि आप किसी आदमी नही, बुद्धिजीवी के पास खड़े हैं।

लोगों में एक और विश्वास बड़ी मजबूती से जड़ पकड़ चुका है कि यह जीव सामान्यत: लोगों के झुंड से बिदकता है। यहाँ तक कि हिंसात्मक, आक्रामक तक हो सकता है, लेकिन एकांत में अपने दड़बे या कोटर में निर्द्वंद्व जुगाली करता रहता है और किसी को हानि नही पहुँचाता। कुछ मायने मे उक्त धारणा सही है, लेकिन पिछले कुछ सालों मे सरकार और कुछ समाजसेवी संस्थाओं ने इन्हें झुंड या समूह में एक साथ रखने के कुछ प्रयोगात्मक कदम उठाये हैं और अपने इस प्रयोग मे उन्हे अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। इससे उत्साहित होकर, अब भारत के कई छोटे-बड़े नगरों में कला-नगर, साहित्य मंदिर, पत्रकारपुरम जैसी प्रयोगशालाएँ बनाकर उनकी गतिविधियों का अध्ययन किया जा रहा है। बड़े हर्ष की बात है कि इन प्रायोगिक कॉलोनियों और शोध-संस्थानों मे विभिन्न आक्रामक नस्लो के बुद्धिजीवी भी साथ-साथ रहना और एक-दूसरे को सहना सीख गये है। यहाँ उन्हे कई मानवीय उपयोग की कलाओं—जैसे दस्तकारी इत्यादि का प्रशिक्षण भी दिया जाता है। इन पर हुए शोधों और सुधारों की चर्चा राष्ट्रीय से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति तक के पत्रों में हुई है।

अपने इस शोध के दौरान मै बड़ी रोमांचक स्थितियों और हादसों से गुजरी हूँ। एक बार तो एक कॉफी हाउस में मेरे और उनके बीच सिर्फ कुछ मेजों का फासला था। वे तीन थे। मेज के बीचोंबीच एक प्याला रखा हुआ

था। एक कह रहा था, यह चाय का प्याला है। दूसरा कह रहा था, कॉफी का प्याला है और तीसरा कह रहा था, यह चीनी का प्याला है। कॉफी-हाउस की अन्य मेजों पर बैठे हुए लोग एक-दूसरे को कोहनी मारकर फुसफुसा रहे थे, ये जरूर बुद्धिजीवी हैं। चलो, भाग चलते हैं। बहसा-बहसी के दौरान जब कठहुज्जती काफी आक्रामक रुख अख्तियार करने लगी तो रेस्त्राँ में बैठे हुए बाकी लोग भी डरे-सहमे धीरे-धीरे खिसकने लगे। लेकिन कॉफी-हाउस का मैनेजर बड़ा हिम्मतवर निकला। उसने लपककर तीनों के कॉलर एक साथ पकड़े और उन्हें बाहर खदेड़ दिया। उक्त मैनेजर को इस वर्ष के साहस और शौर्य पुरस्कार प्रदान किये जाये, ऐसा उक्त स्थल पर उपस्थित ग्राहकों का अभिमत था।

बीहड़ के पठारी इलाकों में भटकते हुए मैंने एक विचित्र किस्म का बुद्धिजीवी देखा। वह तेल बेच रहा था। पूछने पर पता चला कि वह फारसी-पढ़ा बुद्धिजीवी था। उसका दावा था कि वह असली बुद्धिजीवियों की उस नस्ल को 'बिलौंग' करता है, जो बहुत तेजी से खत्म होती जा रही है। उसने बताया कि इस नस्ल के खाटी बुद्धिजीवी थोड़े-से बचे हैं और इसी तरह यहाँ-वहाँ बीहड़ों में तेल बेच रहे हैं। सरकार को चाहिए कि इन्हें संरक्षण दे। उसने यह भी बताया कि हम पुश्तों से फारसी ही पढ़ते आये हैं और तेल ही बेचते आये हैं। अलबत्ता इधर कुछ सालों से इस लाइन में काफी नक्काल पैदा हो गये हैं, जो सिर्फ शौकिया फारसी पढ़कर, कभी पुरखों की इज्जत के नाम पर तेल बेच लिया करते हैं और कभी तेल के बहाने पुरखों की इज्जत।

मैंने हिचकते हुए उनसे पूछा, "लेकिन आप लोग आखिर तेल ही बेचना क्यों पसन्द करते हैं?"

वे मुस्कराकर बोले, "समझ लीजिए, फारसी पढ़कर तेल बेचने का मजा ही कुछ और है!" लेकिन कहते-कहते रोने लगे और बोले, "इसे आप नहीं समझेंगी—यह हमारी भावनात्मक लाचारी है···जाने दीजिए—किसी में कहिएगा नहीं। हाँ, क्या आप थोड़ा तेल लेना पसंद करेंगी?"

मैंने सहर्ष तेल ले लिया और हिचकते हुए पूछा, "अच्छा, क्या आप लोग मालिश वगैरह भी···"

"नहीं-नहीं, हम सिर्फ तेल बेचते हैं। मालिश-चपी वगैरह दूसरी नस्ल-वाले करते हैं···समझ गयी न !"

सचमुच इस नस्लवाले अन्य की तुलना में काफी 'माइल्ड' और शांति-प्रिय-से लगे।

लेकिन वहाँ से थोड़ी दूर आते-न-आते मै कुछ संदिग्ध किस्म के जीवों मे घिर गयी। बचाव का कोई रास्ता नहीं था। वे मुझे घेरकर खड़े हो गये और एक ने पान चबाते हुए पूछा, "क्या आप ही बुद्धिजीवियो पर शोध कर रही हैं ?"

"जी, जी, हाँ···"

"तो फिर वहाँ, उस तेलियाने मे क्या कर रही थी ? अय ?"

"जी, कुछ नहीं, जरा वहाँ के बुद्धिजीवियों से बातचीत···"

"दिमाग तो नहीं खराब हो गया है आपका ? वे तेली कब से बुद्धि-जीवी हो गये ?"

"लेकिन उन्होंने तो कहा कि वे फारसी पढ़े···"

"वही, टुच्ची भाषा-समस्या को उभारने वाली बातें···" उन्होंने पिच्च से थूकते हुए कहा, "खायेंगे हिंदी की, बोलेंगे फारसी। अरे, बुद्धि-जीवी होते तो उस बीहड़ में कोल्हू पेरते ? ऐं ? अरे, असली बुद्धिजीवियों को ऐरे-गैरों से बात करने की फुर्सत कहाँ है ? फोन के एक चोंगे पर अकादमी बैठी है, तो दूसरे चोंगे पर पुरस्कार-समितियाँ; तीसरे पर सरकारी अनुदान और चौथे पर·· जाने दीजिए।"

"हाँ-हाँ, जाने दीजिए—मुझे भी···जरा जल्दी मे हूँ" कहकर मैं हाँफती हुई भाग खडी हुई।

लेकिन थोड़ी दूर जाने पर मैंने पाया कि उन्ही में से एक मेरे संग-संग लगा आ गया है। मेरे सिर घुमाते ही फौरन बोला, "अजी, आपने बड़ा अच्छा किया जो उसमे पल्ला झाडकर भाग खडी हुईं। पूरा चिपकू है वह। दरअसल उसके पास अपनी 'ओरिजनैलिटी' नाम की कोई चीज है ही नहीं। दूसरों के शोध और समीक्षा झटक-झटककर अपनी रोजी चलाता है। मेरी कई चीजें चुराकर नकल टीप लीं। आप तो जी मेरे साथ चलो। हमारी एक संस्था भी है, जहाँ सभी तरह के बुद्धिजीवी मिल बैठते हैं, जो

कोई भी चाहे अपने ग्रंथ का उद्घाटन-विमोचन करवा सकता है। फीस भी बहुत मामूली। आपकी यह पुस्तक पूरी हो जाये तो इसी संस्था में विमोचन-संस्कार करवा लो जी, कंसेशन कटवा दूंगा। शहर के सबसे बड़े उद्योगपति हमारी संस्था के संरक्षक हैं। करोड़पति आदमी हैं। ऐसे-वैसे नहीं—दो-दो बार रेड पड चुकी है उनकी कोठी पर—आप तो जी···"

"····फिलहाल मेरा पिंड छोड़िए।" कहकर मैंने एक टैक्सी बुलाकर लपक ली, क्योंकि एकाएक मुझे उस बुद्धिजीवी के लम्बे बालों में सींगों का अंदेशा होने लगा था। मैं हाँफती हुई भाग खड़ी हुई।

ऐसी अनेक मुठभेड़ों के दौरान, जान तो जोखम में पड़ी, लेकिन साथ ही कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के हल भी मिले जो सदियों से आम आदमी को परेशान किये हुए थे। जैसे एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या बुद्धिजीवी पालतू बनाये जा सकते हैं? उत्तर है, जी हाँ। आज यह बात लगभग प्रमाणित हो चुकी है। कई महान् हस्तियों और संस्थाओं ने भी इन्हें पालतू बनाने की कोशिश की और वे सफल भी रहे। कहना न होगा कि आज हजारों की सख्या में ये जीव अपनी पालतू भूमिका में उन संस्थाओं और हस्तियों के काम आ रहे हैं तथा बड़े उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं।

वैज्ञानिकों का कथन है कि यदि यह कार्य इसी पैमाने पर निर्विघ्न चलता रहा तो निकट भविष्य में, यानी अगली सदी तक बुद्धिजीवियों की दुमें निकल आने की पूरी-पूरी संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता।

बुद्धिजीवियों से संबंधित इस तरह के तमाम रोचक, रोमांचक तथा दिलचस्प कारनामों तथा अन्य विवरण और जानकारियों के लिए पढ़िए—लेखिका की पुस्तक **एनकाउंटर विद बुद्धिजीवीज**···जो शीघ्र ही अंग्रेजी में प्रकाशित होने जा रही है।

हमें तो जी, इसी बात के लिए इक्कीसवीं सदी का इंतजार है। ▭

सस्पेंड न हुए प्रियतम की त्रासदी

सखि ! आज भी मेरा प्रियतम ऑफिस से मुंह लटकाये ही घर लौटा। हर स्तर पर विफल समझौते की तरह उसका चेहरा देखते ही मैं समझ गयी कि आज भी काम नहीं बना। आज भी वह सस्पेंड नहीं हो पाया।

कितनी उम्मीदें लेकर सुबह खुश-खुश ऑफिस गया था मेरा प्रियतम कि आज तो सस्पेंशन-ऑर्डर लेकर ही घर लौटेगा, लेकिन होनी को कौन टाल सकता है ! 'होनी' की गौरवशाली परम्परा में यह अनहोनी हमारे साथ ही क्यों घटित हो रही है, सखि !

पता नहीं क्या बात है ! दैव ही प्रतिकूल है—वरना जहाँ सबका हो रहा है, हमारा भी हो जाता। हमने तो इसी उम्मीद में पूरी सर्दियों का रंगारंग आयोजन कर डाला था। सोचा था, दीवाली से होली तक जमकर सस्पेंशन महोत्सव मनाएँगे। छोटी ननद की सगाई और भतीजे के मुंडन का मुहूर्त भी इन्हीं दिनों के आस-पास रखवाया था। एक तरफ से सबने दिलासा दी थी कि जैसे सब-कुछ चल रहा है, उस हिसाब से सर्दियों तक तो कायदे से हो ही जाना है सस्पेंड। इनसे ऊपर और नीचे के करीब-करीब सभी के नम्बर लग चुके, तो अब इनकी भी पुर्जी देर-सबेर आती ही होगी। लेकिन जाने कहाँ खोई है अपने तकदीर की पुर्जी की बच्ची !

हो गया होता तो अब हम यों झख न मारते। मजे से रजाई में दुबके सिगड़ी तापते चाय-पकौड़े जीमते, सर्दियाँ गुजारते। लेकिन यहाँ तो सस्पेंड करने की कौन कहे, लम्बी छुट्टी तक का फरमान नहीं आया।

पता नहीं कहाँ कसर रह गयी। वरना लोग तो सुबह प्रमोशन की पर्ची लिये दाखिल होते हैं और शाम को सस्पेंड होकर वापस लौटते हैं। लेकिन इनकी तो न भगवान् सुनता है, न अपने ऊपर वाला बॉस।

देखते-देखते इनके सभी संगी-साथी, कुलीग बारी-बारी सस्पेंड हो चुके।

कोई कुल्लू गया कोई मनाली। किसी ने मुंडन निपटाया, किसी ने नकछेदन। कितने गृह-प्रवेश हुए, कितने परिवार नियोजनी ऑपरेशन। परिवार और समाज की प्रगति और समृद्धि की दो-तिहाई क्रेडिट तो हमारे ऑफिसों में हुए सस्पेंशनों को ही जाती है। आधे दर्जन में ऊपर तो अभी आज के दिन भी गडेरिया चूमते क्रिकेट मैच देख रहे हैं।

लेकिन अपने ऐसे भाग्य कहाँ? यार-दोस्त भी मतलबी निकले, नहीं तो मिल-जुलकर साहब के पास जा सकते थे। कह देते कि साहब, इसके भतीजे के मुंडन का मुहूर्त निकला जा रहा है—अभी मेरे बदले इसे सस्पेंड कर दीजिए। बाद में इसके बदले मुझ कर दीजिएगा। जरा-सी अदला-बदली से काम चल जाएगा। जरूरत पर दोस्तों की मदद की मदद, सुभीते का सुभीता। वही म्युचुअल का सवाल। और फिर जब आगे-पीछे सबको सस्पेंड होना ही होना है, तो कौन पहले जाता है, कौन पीछे—इसमें क्या फर्क पड़ने को है!

सखि! मुझे तो लगता है, इनके सस्पेंड न हो पाने के पीछे किसी की चाल है। किसी ने ऊपर वाले बॉस को कुछ दे-दिलाकर इनका सस्पेंशन ऑर्डर अपने नाम करा लिया है।

आजकल ईमान तो किसी का बचा नहीं। वो अपना छोटा बहनोई है न! उसका बॉस बड़ा नेक है। मेरे प्रियतम के बॉस जैसा खड़ूस नहीं। खुद गर्मियों में सस्पेंड होकर शिमले-मसूरी जाता है और मेरे बहनोई को सर्दियों में सस्पेंड कर गाँव में ईख-पेरने भेज देता है। मजे में कट रही है। अफसर और मातहत का यह आदर्श समझौता एक मिसाल बन गया है बाकी बॉसों और मातहतों के लिए।

और एक मेरे प्रियतम का बॉस है, झक्की नम्बर एक। न खुद सस्पेंड होता है न मेरे प्रियतम को होने देता है। कहता है, छुट्टियाँ तो बाकी हैं तुम्हारी? चले क्यों नहीं जाते? अब पूछो उस सिरफिरे से कि छुट्टी लेकर ही जाना होता तो सस्पेंशन का थ्रिल ही क्या रहा? जो मजा सस्पेंड होकर बैठने में है, वह छुट्टी लेकर बैठने में कहाँ! जिस तरह जो लुत्फ फाइल में फँसे क्लाइंट की पाकेट से समोसे, काला जामन उड़ाने में है, वह अपनी गाँठ से खरचने में कहाँ! अब कहो कि जेब में पैसे तो हैं तुम्हारे···तो तुम्हारी

तरह गावदी कौन होगा ?

सखि ! सबसे ज्यादा मलाल यह कि ये उपेक्षा क्यों की जा रही है ! बड़े-बड़े नामी-गिरामी ओहदेवालों को तो छींकते-खांसते मुअत्तलियां बांटी जा रही है। और कुछ नही तो सीधम-सीध लम्बी छुट्टी पर बैरंग भेज दिये जाते हैं। और एक हम हैं कि बीवी-बच्चों की आम का तकाजा किये जा रहे है कि साहब ! एक अदद सस्पेंशन की बात है—दे दो। बेटे-बेटियां आपके गुन गायेंगे और ईश्वर ने चाहा तो आपको भी कभी मुअत्तलियो की कमी नही रहेगी। अरे दातादयाल की मर्जी और ऊपरी हुक्मरानों की मौज रही तो एक मुअत्तिली के बदले आपको दस मुअत्तलियां मिलेगी। आप भी कुल्लू-मनाली जाना, गांव जाकर ईख पेराना।

और फिर कायदे से देखा जाए तो कुछ भीख नहीं मांग रहे। अपना हक मांग रहे हैं। इस महकमे मे हमारी मेहनत-मशक्कत का योगदान कम रहा क्या ?

अरे, अपने पैसे से खरीदी तेजाब छिड़ककर अटेंडेंस रजिस्टर के पन्ने-के-पन्ने गायब किये हैं। रातोरात हजार के आंकडो को लाखो मे तब्दील करते चेहरे पे शिकन नही आने दी। टेंडर-के-टेंडर मनमानी खानापूरियो से भर दिये। एक जरा-से इंक-इरेजर की मदद से सैंकडो-पचासो नामों का आबूदाना रजिस्टर से उडाया और बसाया। कितनी-की-कितनी पुलिया, सडकें नक्शे में खुदवाई और नक्शे मे ही बाढ़ मे बहवाई। लेकिन तब भी एक अदद सस्पेंशन को तरस रहे हैं। और वे लोग, जिन्होने इन सारी-की-सारी सरगर्मियो से दूर रहकर नाक के सीधे फाइले निपटाई, उल्टे हमारे ओवरटाइमी रिकार्डों पर आंखें गडाई, फौरन सस्पेंड कर दिये गये।

तो सखि ! ऐसा अंधेर है। और सुनवाई कहां किसके पास ?···पता नही कैसे लोग कहते फिरे हैं कि 'आज के दिन कब क्या हो जाए, कहा नही जा सकता'—हमारा तो सस्पेंशन तक न हो पाया। ▭

चंद पूर्वजन्मों का लेखा-जोखा

काफी सोच-विचार के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि मुझे अपने कुछ महत्त्वपूर्ण पूर्वजन्मों का लेखा-जोखा प्रस्तुत कर ही देना चाहिए। सब 'चुके हुए' रचनाधर्मी 'आत्मकथा' ही लिखते नजर आते हैं। इसलिए मैं पूर्वजन्मो की कथा लिखूँगी, उन सबसे एक कदम बढ़कर। यों भी मेरा अपना अनुभव है कि 'सुर्खियों' में आने के लिए मात्र एक जन्म के 'गॉसिप्स' या स्कैंडल्स नाकाफी होते है, जब तक ये सब प्रचुर मात्रा में न हो सारी लिखा-पढ़ी बेकार। इसलिए मेरे लिए पूर्वजन्मो की गुफाओं में सेंध लगाना कुछ जरूरी-सा हो गया है।

वैसे कहने को तो मैं अपने पति से हमेशा यही कहती हूँ कि मैं जनम-जनम से उन्ही के साथ हूँ, और वे भी इसे मानते है कि मैं कई जन्मों से उनके पीछे हाथ धोकर पड़ी हूँ लेकिन ये सब मौखिक वक्तव्य है; लिखते समय तो मैं सच के सिवा कुछ नही लिखूँगी। सब-कुछ निखालिस प्रामाणिक, इसलिए और भी क्योंकि लिखते समय मुझे अपने पति का बिल्कुल डर नही रहता। कारण यह है कि एक तो उनके लिए मेरे रचे साहित्य का काला अक्षर भैंस बराबर है, दूसरे उनकी अक्ल भी उनकी नजर में भैंस से काफी बड़ी है। इस तरह मेरे रचनाधर्म और उनकी अक्ल का यह योग तमाम अनिष्टकारी ग्रहों के बावजूद बड़े शुभ स्थान में बैठा है।

और इसी अक्ल के बल पर उन्होंने मेरे पूर्वजन्मो के बहुत सारे तथ्य समय-समय पर खोलने की धमकी दे डाली है। घर-परिवार के और भी बहुत-से जिज्ञासु मेरे पूर्वजन्मो का रहस्य खोलते रहते हैं। उदाहरण के लिए, हर चीज सूँघकर फौरन पहचानने वाली मेरी आदत को देखकर कहा गया है—'तुम जरूर किसी जनम में शिकारी कुत्ता थी'—(ईश्वर उन्हें कभी

सच न बुलवायें) और गर्दन की सुराही हमेशा आसमान की ओर उठाये रखने तथा बगैर पानी पिये भी आराम से काफी समय गुजार देने की वजह से सुनना पडता है—'उधर जोधपुर की कोई ऊँटनी मरी और इधर तू पैदा हुई।'

पर सचाई यह है कि तमाम आमोखास की तरह मैं भी उद्भिज, स्वेदज, अंडज और जरायु आदि जन्मों के क्यू मे लगते-लगते ही इस मानुप-जनन वाली नौबत को आन पहुँची हूँ। उनमें से कुछ जन्मों की बडी मधुर यादें हैं। उदाहरण के लिए, जब कभी हरे-भरे चरागाह देखती हूँ, अपने भेडवाले जन्म की स्मृति कचोट जाती है। आह ! क्या दिन थे—बस घुर्र-घुर्र करते संगी-साथियों के साथ चरते चले जाना, चरते चले जाना—चारों तरफ ताजा, हरा-भरा लंच तैयार, न दीन की फिक्र, न दुनिया की; न कुछ सोचने-समझने वाला सिडा-सा माहौल ! चरना और चरना, और सबके साथ कुएँ में कूद पड़ना। कूदते समय भी वही चरने वाला उत्साह एक साथ, यह नही कि पहले तुम, पहले तुम•••

कुछ इसी से मिलती-जुलती स्मृति 'घुन' वाले जन्म की है। न राशन का झंझट, न राशन-कार्ड का। छिलका-सहित साफ गेहूँ का मैदा गेहूँ में से कुतरती जाती थी। वही भोजन, वही वस्त्र, वही आवास। आज तक मनुष्य इन तीनों समस्याओ का एक निदान नही ढूंढ़ पाया है, जो अदने से घुनो ने ढूंढ निकाला। जितनी इच्छा हो, खाना और खाने से बची जगह मे आराम से पसर जाना। बस, यही था कि अक्सर गेहूँ के साथ पिस जाना पड़ता था। सो क्या अब इस जन्म मे नहीं पिसते ?

अब आपसे क्या छुपाना ? एक जन्म में नागिन भी थी। यह जिंदगी सबसे ज्यादा शानदार और आन-बान वाली थी। बिल मे लेटी-लेटी ही जरा किसी ने जरूरत से ज्यादा बद्तमीजी की नही कि वही फन फहराकर दूध-का-दूध पानी-का-पानी वाला न्याय कर दिया। कोई आयोग बिठाने का पाखण्ड करने की जरूरत नहीं। कितने जानी दुश्मनो को डसा; अब तो बस उसकी यादें ही शेष हैं। सच कहती हूँ, उस तुलना मे यह मनुष्य-जन्म दो कौडी का है, बंधु ! जिसे डसना चाहो डस न सको, किसकी थुड़ी करना चाहो उसकी विरुदावली गानी पड़े—इससे अधिक विडंबना और क्या हो

सकती है ? मैंने उस जन्म मे कई सांपो को कहते सुना था, 'अरे साँप तो बस साँप होते हैं—लेकिन आदमी आस्तीन का साँप ।' मैं तो तहेदिल से चाहती हूँ कि ईश्वर एक बार और साँप वाला जन्म दे देता तो इधर के कई जन्मों का जमा हुआ हिसाब चुकता हो जाता ।

लोमडी वाले जन्म को ही लीजिए । वही खट्टे अंगूर वाली; वह लोमडी मैं ही थी । इतना उछली, हाथ-पाँव मारे, एक भी अंगूर मुँह मे नही टपका । यो यह गुजरता सबके साथ है पर बदनाम मैं ही हो गयी—कि अंगूर खट्टे हैं । आप बताइए, मीठे भी कैसे कहती ? चखे थे क्या ? गम गलत करने का इससे अच्छा तरीका और क्या हो सकता है ? फिर आदमियों की तरह नही कि बगैर चखे ही हाँकने लगूँ—वाह क्या कहने ! बाजार मे कब के आ गये है, बीस रुपये किलो, अभी कल ही अंगूर का शर्बत पिया ।

याददाश्त थोडी कमजोर पड रही है इन दिनों, नही तो आपको अपनी 'मेढकी' और 'तोती' वाले जन्मों के भी संस्मरण सुनाती । आह ! मेढकी वाले जन्म मे जी भरकर टरटराती रहती थी, कितना कुछ, पर कोई रोकने वाला नही रहता था । जो चाहे टर्राओ, जितना चाहे टर्राओ, पति-प्रति-बधक जैसी कोई चीज थी ही नही"'लाँग जम्प के भी कितने ही ओलंपिक रिकॉर्ड तोडे थे"'हर समय पैंतरेबाजी के लिए तैयार"'वे दिन भी क्या थे ! सिर्फ कभी-कभी जुकाम हो जाया करता था ।

यूँ मुझे कोयल वाले जन्म का भी ऑफर मिला था । लेकिन एक तो *रंगभेद-नीति का परिणाम अपनी आँखो देख चुकी थी मनुष्यों के समाज मे,* दूसरे मैं कई जन्मों मे आधुनिक मानसिकता वाली रही हूँ, सो तोती होना ज्यादा पसन्द आया था । हरी-भरी साड़ी और चोंच पर ढेर सारी लिपस्टिक थोपे आम-अमरूद का फ्रूट-सलाद कुतरती रहती थी ।

ठहरिये, अचानक मेरे मस्तिष्क मे एक विचार कौंधा है । मैं अपने पूर्वजन्मो से हटकर अब यह जानना चाहती हूँ कि मेरे पति उस जन्म मे क्या थे ? मेरी पड़ोसिन उस जन्म मे क्या थी, मेरे सम्पादक, प्रकाशक और समीक्षक भी । क्योंकि मुझे शक पड़ गया है कि ये सब-के-सब मुझसे पिछले कई जन्मों की दुश्मनी का बदला निकालने की कोशिश कर रहे हैं । ▭

किस्सा-ए खानम बनाम फ्री लांस रिपोर्टर

किस्सा बयान होता है कि एक आफत का मारा फ्री लांस रिपोर्टर था, जो सुबह-सुबह ही दाना-चुग्गा करके कुछ ताजे, सनसनीखेज, लोमहर्षक की तलाश में यहाँ-से-वहाँ भटकता रहता था। लेकिन उसकी बदकिस्मती कुछ ऐसी थी कि सारी भटकनों के बावजूद उसे कुछ जबरदस्त किस्म की चीज हाथ लगती ही न थी। यों तो रास्तों में जली हुई बसें, उखड़ी हुई पटरियाँ और भिडी हुई ट्रेनों की कोई कमी न थी, लेकिन यह सब-कुछ इतना 'कॉमन' हो चुका था कि इस तरह की चीजों में न पब्लिक का 'इंटरेस्ट' रह गया था न 'मीडिया' का। बेचारा रिपोर्टर इन दो चक्कों के पाटों में पिसता दिन गुजार रहा था, या यों कहें कि दिन नहीं गुजार पा रहा था।

तभी एक घटना घटी। एक दिन शहर के एक जनाने अस्पताल से गुजरते हुए एकाएक उसे इलहाम हुआ—'ऐ फ्री लांस रिपोर्टर ! जा और अस्पताल में भर्ती हुई खातूनों से इंटरव्यू ले—तेरा भाग्य पलट जायेगा—अस्पताल का यह वार्ड रोचक, सनसनीखेज और दिलफेंक कारनामों से भरा हुआ हो सकता है। यहाँ सत्यकथाओं की अपार संपदा गडी हुई मिल सकती है···तू जल-बिच पियासा क्यों घूम रहा है ? जा और अपना भाग्य आजमा ! खुदा हाफिज, तरक्की और कामयाबी तेरे कदम चूमेगी।'

इतना सुनना था कि रिपोर्टर आनन-फानन में अपने सामने वाले जनाने वार्ड के दरवाजे पर जा खडा हुआ। वहाँ उसने जो कुछ देखा, उससे उसे अपनी आँखों पर विश्वास न हुआ। उसने देखा कि एक अच्छी-भली खानम अकेली और चुपचाप मायूस-सी बैठी है। अस्पताली माहौल कुछ इस किस्म का था कि न तो घर की महरी वहाँ आकर हाथ नचाकर लावणी कर सकती थी, न बगल के फ्लैट वाली पड़ोसन कथकली। न कुजड़ा, न धोबी, न कपड़े वाला, न भंगी···और तो और, स्टील के पतीलों वाला तक नहीं।

ऐसे दर्दनाक हालात मे वह अकेली बैठी इस बेचैनी से बोर हो रही थी कि फ्री लांस रिपोर्टर को लगा—अहिल्या-उद्धार का सही वक्त आ पहुँचा है। उसने प्रेम-पगे शब्दों मे पूछा

''ऐ खानम ! आप अस्पताल मे क्यों भर्ती हुईं ? (यानी कि खुदा झूठ न बुलाये, आप तो अच्छी-भली दीखे हैं—कायदे से तो आप जैसों के पतियों को अस्पताल मे होना चाहिए था)।'' लेकिन जनाब, यह पुचकार सुनते ही तो खानम फूट-फूटकर रो पडी और जवाब मे उन्होंने जो वाक्या सुनाया उसके तर्क और साक्ष्य दोनों ऐसे-ऐसे खतरनाक बिंदुओं पर भिडते थे कि फ्री लांस रिपोर्टर के कान खड़े हो गये और वह कैरियर बनने की उत्तेजना और रोमांच के बीच गद्‌गद भाव से नोट लेने लगा—

खानम ठंडी साँसे भरती हुई कहने लगी कि—''ऐ फ्री लांस प्रेम रिपोर्टर साहब ! मैं अपने दर्दे-जिगर के हालात क्या बयान करूँ ? मुझे तो अपने हाले-दिल के बीच 'दर्दे-जिगर' जैसा जुमला इस्तेमाल करने में भी डर लग रहा है क्योंकि मुझे शक है कि मेरे पति सुनते ही बाँसों उछलते हुए इन दोनों शब्दों को हँसी-खुशी मेरे 'हैल्थ-बुलेटिन' में शामिल कर लेंगे और फिर इसी बहाने मुझे इस नामाकूल अस्पताल में कुछ और दिन गुजारने को मजबूर कर देंगे।''

इतना कहते-कहते खानम की ठंडी दर्दीली साँसें गरमाने लगीं। वह क्रुद्ध सर्पिणी-सी फुफकारने लगी। फ्री लांस रिपोर्टर लिखता है कि उसकी स्थिति काफी उग्र किस्म की थी और वह अपने बयान के बीच-बीच में जहाँ जरूरत पडती थी, और जहाँ जरूरत नहीं पडती थी, वहाँ भी गालियाँ देती चलती थी और बयान-पक्ष में कहती थी कि ये गालियाँ मेरी स्थिति की माँग है। अस्तु, बयान नंबर एक—

बकौल खानम, उसके पति ने आज तक उसे यही नहीं बताया कि आखिर उस भली-चंगी को हुआ क्या है और हुआ-हवाया भी तो आखिर इस मर्ज की दवा क्या है, जो कि गालिब-जैसी हस्ती भी शे'रो-शायरी से फुरसत पाने पर पूछ लिया करती थी। लेकिन उसके शौहर ने सिर्फ जरा-सी बदहजमी और मामूली फेफड़ाई मसले पर उसे इस जनाने अस्पताल में ला पटका है।

आगे उस भली-चंगी ने कहा कि खुदा झूठे (जैसे उसके पति) का मुंह काला करे, वह जो कुछ कहेगी, सच कहेगी और यह भी सच है कि अस्पताल में दाखिला दिलाने के बाद उसके पति बिलानागा उसे देखने आते हैं और हालचाल भी पूछते रहते हैं। लेकिन खानम का यह भी कहना है कि वहां पर वे नर्सों, मेट्रनों से भी जरूरत से ज्यादा गप्पें मारते रहते हैं और सबसे बड़े आश्चर्य की बात यह है कि वे जल्दी वापस लौटने का नाम ही नहीं लेते, जो कि आज तक न उन्होंने दफ्तर में किया, न घर में। खानम का कहना है कि क्या किसी भी बीवी के दिल में शक पैदा होने के लिए इतने सबूत काफी नहीं हैं? जब फ्री लांस रिपोर्टर ने खुद-बखुद पैदा हो गयी इस रोमांचक सत्य-कथा का रंग चोखा करने की गरज से पूछा, "ऐ खानम, क्या आप बता सकती हैं कि इसकी वजह क्या हो सकती है?" तो खानम ने पूरे विश्वास के साथ कहा कि "रिपोर्टर साहब! वजह तो सिर्फ एक ही नजर आती है कि वह मुआ 'चैन' से रहना चाहता है और यही खयाल मुझे और भी बेचैन किये देता है।"

□

फ्री लांस रिपोर्टर मन-ही-मन उस खातून के पति-विशेष की सूझ की दाद दे उठा, जिसने जिंदा रहने का इतना कारगर उपाय ढूंढ निकाला था लेकिन साथ ही वह इस वाकये की जड़ भी हिलाना चाहता था—इसलिए उसने रिपोर्टरी लहजे में पूछा, "खानम, कुछ बता सकती हैं, यह खयाल उन्हें आया कैसे?"

"जरूर बता सकती हूँ—मुझे पूरा यकीन है कि यह उस मरदूद के अपने दिलो-दिमाग की फसल नहीं है रिपोर्टर साहब, वह तो आम शौहरों की तरह ही कायदे से खाता-पीता और नाश्तेदान लेकर ऑफिस जाता था, लेकिन अमूमन पिछले साल उसके एक दोस्त की बीवी को जनाने अस्पताल में बेटा या बेटी पैदा हुई। बस, उन पांच-छह दिनों में उस नालायक दोस्त ने इस कदर दुनिया-भर के नायाब-नायाब गुलछर्रे उड़वाये कि बाकी सभी दोस्तों को उसके मुरादों-भरे दिनों से रश्क होने लगा। सब अपनी बीवियों को बारी-बारी से अस्पताल में दाखिल कराने के मंसूबे बाँधने लगे। मेरा शौहर आखिरी नंबर पर था, रिपोर्टर साहब!" (यहाँ पर रिपोर्टर मन-

ही-मन कहता है कि ऐ खानम, आखिरी नंबर पर तेरा शौहर कैसे ? अभी तो मैं बाकी ही हूँ। लेकिन यह सब तो दिल में लड्डू फूटने वाली बातें थी, औरतों के सामने कहने लायक बातें तो थी नहीं, अत रिपोर्टर दिल-ही-दिल में रखे हुए खानम को सुनने और नोट लेने लगा।)

खानम कस्में खा-खाकर बयान करने लगी कि *"अब आपको क्या बतायें—*कहते भी शर्म आती है कि उन्होंने सारी-की-सारी बदसूरत, बूढ़ी और थुलथुल नर्सों की छुट्टी करवा दी है (जिन्हें उसने छाँट-छाँटकर अपने कमरे में रखवाया था)। अब नजारा यह है कि यह वार्ड, वार्ड नहीं परिस्तान नजर आता है और कलेजा जो है, छिदकर छलनी हुआ जाता है। रिपोर्टर साहब ! आप किसी तरह कोई मोर्स भिडाकर सबसे पहले उस कँटीले तारों के फेंस जैसी आँखोंवाली नर्स को मेरे वार्ड से छुट्टी करवाओ, क्योंकि ज्यादा करके वे उसी 'फेंस' के इधर-उधर'''आसपास रहते हैं।"

बयान के इस मुकाम पर पहुँचने के साथ ही खानम को कुछ याद हो आया और स्थिति खासी उग्र हो गयी। उन्होंने रिपोर्टर को अपने सिर की *कसम देते हुए पूछा कि—"आप ही बताइए, अगर आपकी बीवी बीमार* होकर अस्पताल में हो, तो क्या आप 'जब से तुम्हें देखा है—रेखा ओ रेखा''' किस्म के गाने गाते हुए घूमेंगे ? नहीं न ! लेकिन मेरे शौहर तो जिस शानो-शौकत से बन-ठनकर होठों को गुबदाकार करके सीटी बजाते हुए घूमते हैं, उसे देखकर शर्म से मेरी गर्दन झुक जाती है। और उस दिन तो मैं शर्मिन्दगी से लाहौल विलाकूवत गड गयी थी, जिस दिन बाजू के वार्ड वाली पेशेंट की माँ-बहनों ने हैरतअंगेज नजरों से पूछा था—'अरे ! वो आपके शौहर हैं ? लेकिन वो तो जिस खुशमिजाजी से गुनगुनाते घूम रहे थे, उससे लगता था कि आपका ऑपरेशन नहीं, आपको बेटा हुआ है !''' सचमुच उन्हें देखकर कोई नहीं कह सकता था कि यह आपके चंद दिनों पहले की ऑपरेशनयाफ्ता बीवी के शौहर हैं। उन्हें देखने में तो यही लगता है कि माशाअल्ला आजकल ये अच्छी खुराक ले रहे हैं और इनकी चैन से छन और कट रही है। सेहत भी 'दिन दूनी रात चौगुनी' तरक्की कर रही है।'''अब आप ही बताइए, फ्री लांस रिपोर्टर साहब, एक बीवी के लिए इससे बढ़कर शर्मिंदगी की बात और क्या हो सकती है कि उसकी

गैरहाजिरी मे उसका पति चैन से रहे !"

□

जज्वात के सैकडों हजार मीटर की ऊँचाई पर पहुँचकर खानम दहाड़ें मार-मारकर रोती हुई कहने लगी कि इस वात का पक्का सबूत भी है, उनके पास। उसने बताया कि "एक दिन जब उसने मुलायमियत से पूछा कि वच्चे कैसे है, तो वे वगैर जरा भी देर किये बोले कि 'बहुत अच्छे—एकदम मस्त—सव काम भी इंशाअल्ला आराम से हो रहा है'''कोई परेशानी नही'''

इसपर कुढकर खानम को पूछना पडा—'मुझे भी याद करते है कि नही ?'

उसके पति एकदम चौंक गये, फिर वात सँभालकर बोले—'हाँ-हाँ, जरूर, क्यों नही, अभी तो कल ही सब पूछ रहे थे कि पापा, मम्मी को कव तक छुट्टी मिल जाएगी ? वेजीटेवुल कोरमा खाये वहुत दिन हुए'''।'

मैंने जल्दी से कहा—'तो मुझे जल्दी घर ले चलिए न ! जिससे मैं वच्चों को कोरमा वनाकर खिला सकूँ।'

इसपर वे एकदम हडवडाकर बोले—'नही-नही, कोरमा तो मैं उन्हे कल ही होटल मे खिला लाया ! तुम्हें घर चलने की जल्दी मचाने की कोई जरूरत नही। अभी कुछ दिन तो और रह ही लो'''

इतना कहते-कहते खानम फ्री स्टाइल मे माथे पर दोहत्थड मार-मारकर रोने और चीखने लगी कि रिपोर्टर साहव, अव पूछने को या कहने-सुनने को वाकी रह भी क्या गया था ? अस्पताल से घर तक की स्थिति साफ है। यह स्थिति महामोह-भग की स्थिति है। इस अंधे युग पर कोई क्यों नही कलम चलाता कि जिस अहसानफरोश परिवार को नाश्ते-खाने की धारावाहिक किश्ते पहुँचाते-पहुँचाते खानम अस्पताल को प्यारी हो गयी, वही उसे रोती-कलपती छोडकर वेजीटेवुल कोरमा का महाभोज कर रहा है !

पहले तो फ्री लाम प्रेस रिपोर्टर दनादन नोट लेता रहा, लेकिन जब खानम की स्थिति और जज्वात खतरे के बिंदु को पार करने लगे तो वह घबराया; लेकिन तभी खानम के शौहर आन पहुँचे और स्थिति को काबू में

करने की गरज से उन्होंने फौरन नर्स को बुलाकर उसे इंजेक्शन देने की गुजारिश की। खानम चीखती हुई कहती रही—"यह सब मुझे बेहोश करने की साजिश है रिपोर्टर साहब ! इनसे कह दो, याद रखें, अगर मैं होश में न आयी तो इनमे से एक-एक को देख लूंगी···हाँ, देख लूंगी ! नही तो मेरा नाम खानम नही···"

लेकिन देखता कौन ? फ्री लांस प्रेस रिपोर्टर तो फौरन मैटर बगल मे दबाये संपादक के पास भागा जा रहा था, साथ-ही-साथ यह सोचता भी जा रहा था कि अपनी बीवी को अस्पताल में भर्ती कराने के लिए कौन-से मर्ज का नाम ज्यादा उपयुक्त रहेगा ? ▭

हाय···बाल वर्ष बीता जाये···

जब से पैदा हुई, इतना दिलचस्प वर्ष न कभी देखा, न सुना। महिला वर्ष के दौरान, 'विमेंस लिब' ने जोश में बड़े-बड़े तेवर बदले, परम्परा और प्रकृति के प्रति विद्रोह के नारे उछाले, पर जाते-जवाते 'बाल वर्ष' को जन्म देता ही गया। कुल मिलाकर, सृष्टि अपनी परम्परा का निर्वाह करा ही ले गयी।

और अब, इस 'बाल वर्ष' पर बड़ी रौनक है। सब अपने-अपने ढंग से, ढोल-मजीरे लिये बधावे गा रहे हैं, तोरण बन रहे हैं, बदनवार बाँध रहे है, बिजली के लट्टुओं की झालर लग रही है। मंच सजा है—चारों ओर भोंपू-लाउडस्पीकर। जोर-जोर से रेकॉर्ड बज रहे हैं···क्या हो रहा है मित्र यहाँ?

क्रैकर-शो···पटाखे छूटेंगे बाल वर्ष के उपलक्ष्य में। मुख्य अतिथि, जीनत अमान, हेलेन, मदन पुरी, अमिताभ बच्चन···'ओ खइ के पान बनारसवाला'···टिकट दर: १५० रुपये, १०० रुपये, ७५ रुपये, ५० रुपये, और २५ रुपये। वर्ष का सबसे बड़ा क्रैकर-शो···लानत है उन माँ-बापों को, जो बाल वर्ष पर अपने बच्चों को इतना शानदार क्रैकर-शो न दिखा सकें··· और यहाँ इस मंच पर?

हास्य-सम्राट् जॉनी व्हिस्की की मिमिक्री—यह भी बाल वर्ष के उपलक्ष्य में। वहाँ कव्वाली, उधर तमाशा, यहाँ नौटकी, मुजरा—सब बाल वर्ष के उपलक्ष्य में। वाह्! क्या नजारा है! जिसे देखो वही बालवर्षीय उपलब्धि के लिए कमर कस के तैयार। हर कोई कुछ-न-कुछ कर गुजरने के लिए आमादा।

महिला क्लब, छोले-भटूरे खा रहा है, तो बाल वर्ष के उपलक्ष्य में। टीचर लोग, कोचिंग क्लास की फीस बढ़ा रहे हैं, तो बाल वर्ष के उपलक्ष्य में। चंदे दिये जा रहे हैं, तो बाल वर्ष के उपलक्ष्य में। भीख माँगी जा रही

है, तो वाल वर्ष के उपलक्ष्य मे । मजा यह कि इस साल, अब तक जो कुछ भी हुआ और आगे होगा, सब वाल वर्ष के उपलक्ष्य में।

☐

यो वच्चो का कौन-सा अकाल पडा है ? हर दिन हजारो-लाखों पैदा होते है, मरते है···पॉकेटमारी करते हैं, जूठे पत्तल चाटते है, मिचमिची-पनीली आँखो से यहाँ-वहाँ, गटर-कीचड मे डोलते फिरते है, सो बच्चे कहाँ भागे जाते है, पर वाल वर्ष भागा जाता है न ? कुल जमा तीन सौ पैंसठ दिन। इमी मे सव-कुछ कर लेना है। सो जल्दी-जल्दी मिनिस्ट्री से, स्कूलों मे माइक्लोस्टाइल की पर्ची भेज दी गयी कि वाल वर्ष के उपलक्ष्य मे कुछ करिए। आदेश-पालक के रूप मे सबसे पहले चदे उगाहे गए। हैडमास्टरो, प्रिंसिपलो ने पर्चियाँ अध्यापक-अध्यापिकाओं को थमा दी। सब लोगो ने मिलकर, बच्चो को घर से कुछ सूक्तियाँ और चौपाई लिख, रंगकर लाने को कहा और उन्हे खभो इत्यादि पर टँगवा दिया।

अध्यापिकाओ ने जवाने चटखारी और 'स्टॉल' लगाने की योजना वनानी गयी। एकाध चीज बनायी गयी, बाकी मिठाई और चाट दुकानो से मँगा ली गयी। बच्चो से पहले ही कह दिया गया कि उस दिन घर से ज्यादा-से-ज्यादा पैसे लेकर आना, तुम्हीं लोगो के वाल वर्ष के उपलक्ष्य मे हम लोग स्टॉल लगा रहे हैं। बच्चे, माँ-बाप से लड़-झगड़कर जो वन पडा ले आये और एक-एक रुपये मे दो पकौड़े तथा पचास पैसे की चार-चार मूंगफली खाकर घर लौटे। आयोजन बड़ा सफल रहा। इस प्रकार अध्यापिकाओ का वाल वर्ष पर यह एक महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

☐

बाल वर्ष का कुछ ऐसा प्रभाव रहा कि वडे-से-बड़े लोग वचकानी हरकतें करने लगे। बच्चो के स्वस्थ मनोरंजन के लिए देश के दिग्गजो ने वो-वो करतब दिखाये तथा कलाबाजियाँ खायी कि उनका आँखों-देखा हाल, अखबारो तथा आकाशवाणी से पढ-सुनकर बच्चे हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये। सबके मुँह से एक ही प्रशसात्मक वाक्य कि इतने वडे-बड़े लोग देश के कर्णधार, लेकिन अपनी वातो और करतवो मे कितने वचकाने !

इन लोगों के अतिरिक्त 'मत्रियो' ने भी पूरी रुचि से कार्यक्रमो मे भाग

लिया। एक मंत्री ने सभी बच्चों को शराब न पीने की शिक्षा दी। दूसरे मंत्री ने उन्हें बड़े होकर किसान रैली में आने का निमंत्रण दिया। तीसरे प्रधानमंत्री ने बच्चों को कुश्ती के तरह-तरह के दाँवपेंच सिखाये। गरज यह कि सबने अपने-अपने ढंग से बच्चों को बहलाया-फुसलाया और उन्हें मालाएँ पहनाने तथा भाषण सुनने की अधिक-से-अधिक सुख-सुविधाएँ प्रदान कीं।

इस प्रकार बच्चों के सर्वांगीण विकास के लिए ऊपर लिखी सुविधाएँ तथा सुअवसर प्रदान किये गये। उन्हें बताया गया कि वे चाहें तो बहुत-कुछ कर सकते हैं—पहाड़ खोद सकते हैं, आकाश से तारे ला सकते हैं और इस धरती को स्वर्ग बना सकते हैं···हर घर को तुम स्वर्ग बनाना, हर आँगन को फुलवारी।

प्यारे बच्चो ! तुम्हारे स्वस्थ मनोरंजन के लिए हजारों-लाखों रुपयों का अनुदान पास किया गया है, बड़ी संख्या में बालोपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है; ढेर सारी बाल फिल्में बनी हैं और सब-की-सब राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय फिल्म-समारोहों में दिखाकर पुरस्कार जीत रही हैं। वैसे कुछ अज्ञात कारणों से तुम इन पुस्तकों और फिल्मों को नहीं देख पाये हो और शायद देख पाओगे भी नहीं। पर क्या पता ईश्वर की इच्छा से भूले-भटके देख ही लो ! इसलिए ईश्वर पर भरोसा रखो। वे असंभव को संभव कर सकते हैं···हरि इच्छा भावी बलवाना···।

आकाशवाणी और दूरदर्शन के कार्यक्रमों ने तो सचमुच श्रोताओं और दर्शकों को बहुत-कुछ सोचने पर मजबूर कर दिया। दोनों में एक-से-एक दिलचस्प कार्यक्रम प्रस्तुत किये गये। पहले उन्होंने कुछ बच्चों को इकट्ठा कर लिया। फिर बारी-बारी से हर प्रोग्राम के उद्घोषक ने उन बच्चों के गाल सहलाये, पीठ थपथपायी और बहुत-से महत्वपूर्ण प्रश्न पूछे, जैसे उसका नाम क्या है ? उसका यह नाम क्यों पड़ा ? किसने रखा ? वे किस क्लास में पढ़ते हैं ? उनके स्कूल का नाम क्या है ?

इस तरह बड़े परिश्रम से इन सवालों के जवाब मालूम किये गये। जैसे एक बच्चे ने कहा कि उसका नाम माधव है और वह कक्षा तीन में पढ़ता है। दूसरे ने कहा कि उसका नाम मंटू है और वह कक्षा दो में पढ़ता है। इस तरह बहुत-से बच्चों के नामों और कक्षाओं के बारे में पता चला। अगर

बाल वर्ष न आता, तो किसी को यह सब पता भी न चलता कि देश के एक बच्चे का नाम माधव और दूसरे का मटू है।

फिर उद्घोषक ने उनसे पूछा कि खाने मे उन्हे क्या पसन्द है? किसी ने जलेबी बतायी, किसी ने समोसे, और किसी ने पूरियाँ। इसके बाद उद्घोषक बड़ी संजीदगी से दर्शकों की ओर मुड़कर कहता है, तो मित्रो··· यह है इनकी पसंद। क्या आपने कभी सोचा है कि माधव का नाम माधव क्यो है और वो कक्षा तीन मे क्यों पढ़ता है या मंटू को पूरियाँ ही क्यों पसंद है?

दोस्तो! यह एक अहम सवाल है···राष्ट्रीय मसला है···मैं चाहता हूँ इसपर हर दर्शक, हर श्रोता, जितना धुना जा सकता हो, उतना सिर धुने ···मेरे तो कार्यक्रम का वक्त समाप्त होता है।

☐

अब तक छोटे-बड़े साहित्यकारो को भी खबर लग गयी थी। लोग भागे-भागे संपादकों के पास पहुँचे। सपादक बोले, 'बाल वर्ष को लेकर कुछ लिखा हो तो छापूँ।' लेखक बोले, 'जो छापो वह लिखूँ।' बात सही है—जो छापो वो लिखूँ—व्यर्थ मे समय क्यो बरबाद किया जाये? इसी एक ही वर्ष मे जितना हो सके, कमा लेना है। समय थोड़ा है, काम ज्यादा। और हुनर अपने पास है, तो काम की क्या कमी! सो भी बच्चों पर लिखना? अरे जहाँ देखो नाक बहाते, सिर खुजलाते, कटोरा लिये घूम रहे हैं। कहो तो आँकडे इकट्ठे कर दूँ? कहो तो नाम-पते नोट कर दूँ? बस काम खत्म। इतने में दस-पाँच किताबें तो निकल ही सकती है। बात छपने की है···क्या छप रहा है यह महत्त्वपूर्ण नहीं···बाल वर्ष पर छप रहा है, यह महत्त्वपूर्ण है। महत्त्वपूर्ण है बाल वर्ष, पुस्तकें नही···महत्त्वपूर्ण है 'वर्ष', 'बाल' नही।

बाल वर्ष की गगा बह रही है, तेरे कूचे से। बारह महीने बहेगी। इस बहती गगा मे हाथ धो ले! पूरी जिन्दगी का बंदोबस्त कर ले, नही तो बाद में पछतायेगा, जब बाकी सब खेत चर जायेंगे। दस महीने बीत भी गये, जो रह गये, वे भी बीत जायेंगे। और पीछे बहुतो की लाइन लगी है। जय बजरंग बली···बाल वर्ष पर तोड़ दे दुश्मन की नली! ▭

चलो रे चलो रे अड़तालीस डाउन

प्लेटफॉर्म पर बड़ा ही हृदय-विदारक दृश्य था। लोग-बागों में जो जहाँ सुनता चेहरे पर हवाई उड़ानें भरता वहाँ पहुँच जाता। बाद में पहुँची माताएँ और बहनें, पहले से मौजूद मेरी ओरिजिनल माँ और बहनों को इस हिकमत से चुप करातीं कि वे और भी जोर-जोर से रोने लगतीं। दृश्य और अधिक हृदय-विदारक हो उठता—तब इस हृदय-विदारकता का दायित्व दूसरों पर अर्थात् माताओं और बहनों के नवीन सस्मरणों पर छोड़ वे लोग उस ओर से आश्वस्त हो, मेरे चारों ओर गोल घेरा लगाकर मुखातिब हो जातीं। काफी देर तक सिर्फ एक अदद सवालिया निगाह मेरे ऊपर इस आशय से टिकाये रखतीं कि यह जो नादानी-भरा निर्णय मैंने लिया है—अर्थात् समर स्पेशल में यात्रा करने का—यह मैंने पूरे होशोहवास में लिया है या किसी तरह के बाहरी या पारिवारिक दबाव के कारण? पारिवारिक दबाव वाले मुद्दे पर वे लोग पूरी जागरूकता से दूसरे कोने में मुस्तैदी से खड़े होकर सीटी बजाते मेरे पति के चेहरे-रूपी लिफाफे को आजमाने, भाँपने लगते। लेकिन जल्दी ही उन्हें पता चल जाता कि यह लिफाफा खाली है। अत: मेरी बचकानी हरकत की पूरी जिम्मेदारी आप-से-आप मुझपर ही आ जाती और वे सब वापस अपनी पिछली हितोपदेश वाली भूमिका पर आ जातीं।

हितोपदेश नंबर एक—'ऐसी भी क्या आफत आयी थी! अरे टाल जाना था, अपने मियाँ से पूछ लेती। हफ्ते में तीन दिन ऑफिस न जाने वाले पक्चुअलों में से हैं! हजार नुस्खे बता देते! नहीं तो हमी क्या मर गये थे?'

मर जाने वाली बात पर बाकी रिश्ते वाली बहनें भी जैसे जी उठीं—'बिलकुल, बहानों का क्या है! बनाना आना चाहिए। इसमें झूठ-फरेब की भी कोई बात नहीं। हर बात पर अगर सत्यवादी हरिश्चन्द्र बन जाओ तो

सारे नाते-रिश्ते कभी के खतम हो जाते। अरे इन्ही पर तो दुनिया टिकी है !'

'फिर शादी-ब्याह और दूसरो का मरना-जीना तो लगा ही रहता है। इसके लिए कोई इस तरह अपनी जान जोखिम में थोड़े ही डालता है !'

जोखिम की बात सुनकर मेरी ओरिजिनल माँ मैथिलीशरण गुप्त-कालीन शैली मे विलाप करने लगी, जिसका आशय था कि—

'अगर यह मुझसे कहकर जाती—तो भला मैं इसे कभी अड़तालीस डाउन समर-स्पेशल का टिकट कटवाने जाने देती ?'

माँ का क्रंदन सुनकर सभी माताओ और बहनो ने आँखो पर रूमाल रखकर एक-दूसरी से कहा—

'माँ का दिल है न ! जानता है कि एक बार जो अड़तालीस डाउन मे चढा उसका क्या भरोसा !'

यह सवाद अब तक बोले गये सारे संवादो मे 'हिट' गया। इसलिए ज्यादा-से-ज्यादा संख्या मे रूमाल आँखों से लगे, हटे।

युवा गृहस्थिने साफ-साफ कहने मे झिझक रही थी। लेकिन अदर-अदर उनका विश्वास जम रहा था कि जरूर मेरे अंतर्मन में कुछ दाम्पत्य-कुठा किस्म की चीज ने जोर पकडा है। 'फलाने रिश्तेदार की व्याह-शादी तो सिर्फ बहाना है ! उन्हे खूब मालूम है यह सब दाम्पत्य-कुंठा भुनाने के तरीके हैं।'

इसलिए उन्होंने मेरी उम्र का हवाला दे-देकर समझाना शुरु किया कि अभी तो आगे के वैवाहिक जीवन में जाने कितने ऐसे नामाकूल लम्हे आयेंगे—इतनी जल्दी क्या थी अड़तालीस डाउन में बैठने की ! अरे तुम तो नसीब वाली हो, क्योकि न दागी-जलाई गयी, न घर से निकाली गयी। अच्छी-भली वनपीस में हो, है कि नही ? तुम्हे सोचना-समझना चाहिए था। नन्हे-नन्हे बच्चों का मुँह देखना था। यह क्या कि अपनी भरी-पूरी गृहस्थी उजाडने के लिए अडतालीस डाउन एक्सप्रेस का टिकट कटवा बैठी ! उन लोगों ने यह भी समझाया कि जिस तरह मरने के हजार तरीके हैं उसी तरह जिंदा रहने के भी तो एकाध तरीके हैं, तो मुझे दाम्पत्य-कुठा के बीच उन्हे भी आजमाना चाहिए था। उसके बाद समर स्पेशल का टिकट कटवाना था।

बाकी महिलाएँ, जो दाम्पत्य-कुंठा का अर्थ नही जानती थीं अर्थात्

कॉनवेंट में पढी थी, वे मेरे व्यक्तिगत मामले में हस्तक्षेप न कर केवल सुरक्षा-भावना पर जोर दे रही थीं—उनका कहना था कि जहाँ तक सुरक्षा का सवाल है, इसमें कोई शक नही कि रेल की पटरी, रेल के डिब्बे से कही ज्यादा सुरक्षित है। क्योंकि आत्महत्या के अतिम चरण में भी इरादा बदल जाने पर पटरी से उठ आया जा सकता है, जब कि डिब्बे मे बैठ जाने पर ऐसा कोई चांस नही। इसके बाद करीब-करीब उन चीजों के नाम गिनाये जो रेलगाड़ी से कही ज्यादा सुरक्षित हैं। फिर ऐसे नाम गिनाये जाने लगे जो असुरक्षित तो थे पर रेलगाड़ी जितने नहीं···

इस दूसरी लिस्ट मे भी अडतालीस डाउन एक्सप्रेस का नाम नीचे से पहले नबर पर था। यह सब सुनते ही मेरी माँ की नीर-भरी दुःख की बदली फिर से वेहिसाब वरस पड़ी और महिलाओं मे चारों ओर वापस शोक की लहर दौड गयी।

अब तक गाड़ी आने के कोई आसार न देख पड़ोसिनों का सब्र छूटने लगा। आजिजी से हाथ दबाकर बोली—'ओ. के. जी, जिंदगी रही तो फिर मिलेंगे—हमारा मतलब है आपकी···'

इतने मे पुरुषों का शिष्टमडल ट्रेन का सही समय पूछकर लौटा और हाँका लगाया कि—'हो गयी झडी हो गयी ! अब आगे की सुध लेव !' और मेरे पास आकर जल्दी-जल्दी हिदायतनामे का पाठ करने लगे—

'समर स्पेशल है न···टॉर्च और एक बडी सुराही मे पानी जरूर भर लेना और रास्ते-भर औरो को भी बाँटती जाना···समर स्पेशल में पानी और बिजली की व्यवस्था विशेष रूप से नही होती।'

दूसरे ने हिदायत दी—'टी. सी. को दस-पाँच जरूर पकड़ा देना, नही तो खिट-खिट करेगा···।'

मैंने कहा—'मेरा तो रिजर्वेशन है—कैसे करेगा···?'

उन्होंने कहा—'तो भी करेगा। जरूर करेगा! और पकडा दोगी तो अच्छा रहेगा! सभी पकड़ाते हैं ! अपने देश की परम्परा है ! इसके हिसाब से चलना चाहिए।'

इतने में प्लेटफॉर्म पर भगदड़ मच गयी थी। लोग एक-दूसरे का नाम ले-लेकर चीखने-चिल्लाने और शोर मचाने लगे। सब लोग विना बात

आगे-पीछे, दायें-बायें हर तरफ के लोगों को धक्का दे-देकर भागने-दौड़ने लगे। सक्षेप में था शोर—मौत में बचो ! बचो !

तलवार गिरी, तलवार गिरी

('हल्दी घाटी' से साभार)

मुझे जोर-जोर से धडधड़ाती, आकाश-पाताल गुंजाती आवाज तो सुनायी दे रही थी, चिंघाडती हुई सीटी भी, लेकिन दिखाई कुछ नही दे रहा था। मैं इसी अचभे में किंकर्त्तव्यविमूढ खड़ी थी कि गाड़ी आयी है तो कहाँ आई है ? दिखाई क्यो नही पड रही है ?

तभी मेरे मार्गदर्शक चीखने लगे—'आई तो है भाई ! होश मे आओ, उसमे बत्ती नही है, इसीलिए दिखाई नही दे रही है'''चलो, जल्दी करो—अंदाज मारकर घुस जाओ'''अरे बस चढ जाओ'''फिर हम देख लेंगे !'

लेकिन मैं चढती कैसे ? क्योंकि चढने की कोशिश करते हुए मुझे कुछ ऐसा अनुभव हुआ कि इस गाड़ी से यात्रा करने वाले लोग दो प्रमुख वर्गों में विभक्त हो गये है—एक वर्ग मुझे ठूँसकर हर हालत मे डिब्बे में चढा देना चाहता है, दूसरा दल, जो कि डिब्बे मे पहले से मौजूद है, डिब्बे में चढ पाने की मेरी हर कोशिश नाकामयाब कर मुझे डिब्बे से नीचे उतार नही, बल्कि फेंक देता है। यह दो चक्की के पाटो के बीच साबुत न बच सकने वाली चरम दार्शनिक स्थिति थी जिसका कबीर ने बडा हृदयस्पर्शी वर्णन किया है—दो पाटो के बीच मे साबुत बचा न कोय'''बिना भारतीय रेलो की धकापेल भोगे हुए इतना-कुछ लिख जाना युगद्रष्टा कवि ही कर सकते है, फिर वे तो सत थे, त्रिकालदर्शी'''

कि अचानक मैंने अपने को गाड़ी में चढ़ी हुई पाया। कुटुम्बीजन सहर्ष तुमुलध्वनि करते हुए टॉर्च जला-जलाकर मेरी बहुमूल्य सीट ढूँढ रहे थे। सीट ढूँढने और नवर देखकर पूरा इत्मानान हो जाने के बाद वे उसी तरह चिल्लाये जिस तरह महान् वैज्ञानिक आर्कमिडीज यूरेका-यूरेका चिल्लाता हुआ बाथरूम के बाहर दौड चला था।

बहरहाल मैं दौड़कर अपनी सीट पर बैठकर खिड़की की तरफ चेहरा घुमाकर हाँफने लगी। इतनी देर मे ही धूल-धक्कड, कचरे, पीक और पसीने से युक्त मैं क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा से युक्त साक्षात् 'अधम-

शरीरा' हो गयी थी···लेकिन तभी खिडकी के बाहर, डिब्बे के ऊपर से न जाने किस अनाथ पाइप का सिरा खुला और धाराधार छरछराते पानी की तेज बौछार खिड़की के रास्ते मेरा तरबतर-अभिषेक कर गयी। सो सब मालिन्य धुल गया।

पति मुझे अड़तालीस डाउन में स्थापित देख, प्रसन्नचित्त भागे गये और ठेले वाले से दो केले तथा एक संतरा लेकर गद्गद भाव से लौट आये और उन्हें सीट पर सजाने लगे···मेरी छत्तीस घंटे की यात्रा के लिए मिला पाथेय यो समझिए कि जीवन में पहली बार, मैं कामायनी के 'लज्जा सर्ग' मे पूरी तरह डूब गयी थी। लेकिन पति ने खुद ही बात खुलासा कर दी···

कि 'जी मे तो आ रहा है कि दर्जनों केलों-संतरो से तुम्हारा आँचल भर दूं, लेकिन यही सोचकर कि पता नही यह अड़तालीस डाउन पहुँचेगी भी या···'

तभी इनके कंधे पर आश्वस्ति-भरा एक पैना, ताजा, सशक्त हाथ आ पड़ा। यह हाथ 'नगर जागृति' के प्रधान, संयुक्त, मुख्य तथा प्रबन्ध संपादक श्री हरहरलाल चौबे 'मयंक' का था। उन्होंने सस्वर कविता-पाठ के स्वर में कहा—

'धीरज रखिए, धैर्य न खोइए--बस यही मनाइए कि हवा न चले, पत्ता न खड़के, कुहरा न पड़े, बारिश न हो, और ज्यादा ठंड या ज्यादा गर्मी न पड़े, रास्ते-भर कोई दूसरी ट्रेन न आये-जाये, क्योकि इनमे से किसी भी कारण के होने या न होने से यह समर स्पेशल कही भी अनिश्चित काल के लिए रुक सकती है।···

रही कमजोर पुल और जबरदस्त बाढ की बात, तो—उसके लिए तो होईहैं सोइ जो राम रचि राखा—सिवा महामृत्युंजय-जाप के कोई उपाय नहीं।'

मेरा दिल घबराया, खासतौर से यह देखकर कि मयंक जी मेरे पति को एक तरफ ले जाकर फुसफुसाते हुए कह रहे थे—'बहेन जी का पासपोर्ट साइज का एकाध ताजा चित्र तो होगा न घर में···क्या मालूम कब आपके शोक-संतप्त परिवार के प्रति संवेदना व्यक्त करने के लिए···'

अब तो मुझे कँपकँपी छूट गई। जी चाहा, बक्से-बिस्तरबंद फेंक-फांक-

कर भाग खड़ी होऊँ इस अडतालीस डाउन से—पर अब उतरना या निकल भागना इतना आसान था क्या ? लोगों की साखी, सबद और चेतावनी याद आ गयीं कि एक बार जो 'समर-स्पेशल' में चढ़ा सो चढ़ा—उतरने की बात भूल जाओ। याद रखो यह समर-स्पेशल का महासमर—या महासफर—यादगार सफर—जिंदा रहना तो आजीवन याद रखना—ऊपर-नीचे, दायें-बायें, धक्कम-धुक्की, ठस्सम-ठस्स --क्या रिजर्व और क्या अनरिजर्व्ड—भेद-भाव की बात भूलकर जबान पर मत लाना—क्योंकि रेल का हर डिब्बा एक छोटा भारत !

सिगनल डाउन हो रहा है अपने मूड की तरह···और अडतालीस डाउन छूट रही है—अपनी हिम्मत की तरह !···

▭

मेरी आत्मकथा के कुछ महत्त्वपूर्ण अंश

प्रस्तुत है, आज से बीस-पच्चीस वर्ष बाद (यानी मेरे मरणोपरात) प्रकाशित होने वाली मेरी आत्मकथा के कुछ महत्त्वपूर्ण अंश। हर्ष का विषय है कि यह प्रतिष्ठित पत्र इन अंशों को प्रकाशित करने का जोखिम उठा रहा है। अब यह हिंदी के समस्त आमो-खास पाठकों का दायित्व, कर्त्तव्य और धर्म है कि वे इसे पढ़ जायें और पढकर सोचने पर विवश हो जायें कि आखिर वह कौन-सी लाचारी थी, जो मुझसे मेरी आत्मकथा लिखवा गयी। मैं स्वय बताता हूँ···वह थी मेरी आत्मवेदना; कथा, कहानी, कविता आदि कुछ भी मलीकेदार न लिख पाने के कारण मैं बहुत अधिक आत्मपीड़ित था। चर्चित हो पाने के खयाल से कुछ जोड़-तोड़कर लिखता भी था, तो कोने में घात लगाये समीक्षक दौड़कर आते और झटपट मेरी रचना पर 'चीप' का लेबल चिपकाकर भाग जाते। मेरी थुड़ी-थुड़ी हो जाती। पर हसरतें और हौसले थे कि बिना साहित्य-जगत् में अपनी कारगुजारी दिखाये हटने का नाम ही नही लेते थे। अत: इस मैंदान में उतरने का बस एक ही रास्ता बच रहा था—यही आत्मकथा वाला।

बहरहाल इस भूमिका-ए-आत्मकथा के माध्यम से मैं आप सबको विश्वास दिला देना चाहता हूँ कि इस आत्मकथा में आपको वह सब मिलेगा, जो आप किसी भी 'संपूर्ण' पत्रिका में पाने की उम्मीद रखते हैं। मतलब यह कि मेरे प्रेम-प्रसंगो से सम्बन्धित तमाम दुःखद, सुखद प्रसंग, तथा इन्हीं सदर्भों में किये गए मेरे साहसिक-रोमांचक कारनामे, मेरी प्रेमिकाओ के नख-शिख, मेरी पत्नी के रौद्र-रसादिक भाव-ताव, हँसा-हँसाकर लोट-पोट कर देने वाले मेरे बाल-गोपालों के शिशु-करतब, कोई भी 'स्तंभ' छूटने नहीं पाया है। मेरे परिवार का इतिहास, व्यापक धरातल घेरता हुआ मेरी पत्नी का भूगोल, मुहल्ले का सम्पूर्ण पुराण, और मौके-बेमौके सिर धुनता हुआ

मेरा जीवन-दर्शन, आपको सब-कुछ मिलेगा।

सच-सच कहूँ तो वे दिन बडी कड़की के थे। इतनी कोशिश की, बड़े हाथ-पैर मारे, पर न उदीयमान कवि बन पाया, न सशक्त कहानीकार और न ही पैना-व्यग्यकार, पारखी पंडित, कोई रह ही नही गये थे। कबीरदास जी वाली बात ही ठीक थी—पोथी पढ़-पढ जग मुआ, पडित भया न कोय, मेरे लिए सचमुच सब मर ही गये थे। कबीरदास जी पर इतनी श्रद्धा उपज गयी थी कि कई बार जी में आता, चलूँ किसी नदी-पोखर की सीढ़ी पर ही लेट रहूँ, अँधेरे मे शायद किसी पडित का पैर पड़ ही जाये, हुमचकर पैर पकड लूँगा और बिना 'उदीयमान' कहलाये छोड़ूँगा नही। पर कोई पकड़ मे ही नही आया। सब कुदरत का खेल था—यह देखो कुदरत का खेल, पढ़े फारसी बेचे तेल ! सो मैं सालो तेल ही बेचता रह गया।

उन दिनो सपादक भी बडे जालिम थे। जमकर 'रैगिंग' करते थे। कहानी ले जाता तो कहते, बहुत बड़ी है, उपन्यास ले जाता तो कहते, बहुत छोटा है। व्यग्य के लिए, पैना नही, निबध सशक्त नही। कविता ताजी नही होती और गीत बासी होता। तात्पर्य यह कि सब-कुछ 'सवाया' करके लौटा दिया जाता और उसके बाद खुश होकर पीठ ठोकते हुए प्रोत्साहन देते 'कुछ नया लिखो—नयी विधा, नयी शैली—मतलब जो न कविता हो, न कहानी हो, न व्यग्य, न उपन्यास।' मैं ऐसा ही कुछ 'नया' लिख पाने की दुश्चिता मे कई-कई रातों सोया नही, बस कुछ नया लिख पाने की धुन लग गयी थी। आठवें दिन मैं एकाएक जोर से चिल्ला पडा—ढेंचू···ढेचू···यह एक नया तेवर था और सभी शर्तो को पूरा करता था। नयी विधा, नयी शैली। लोगों ने बडी वाहवाही दी। उसे असाधारण और लीक से अलग कहा। पशु-जगत् मे सामान्य होते हुए भी मानव-जगत् में यह एकदम नया प्रयोग था। मैंने वह कहावत चरितार्थ कर दी थी कि बडे-बडे बह गये और गधा कहे कित्ता पानी !

यद्यपि मैंने साहित्य की बहती गंगा की धारा को पहचानकर हाथ धो लिये थे, फिर भी परिवार-जनों के बीच मैं अब भी गधा ही समझा जाता था। एक तरह से सारे सघर्ष की पृष्ठभूमि मेरी यह उपाधि ही थी। फिर भी साहित्य-सेवा के प्रति पूरा परिवार प्रतिबद्ध था। पत्नी से मैं अचार,

पहेली, बड़ियों की विधि पूछ-पूछकर महिलोपयोगी स्तंभों में भेजना, बच्चों के 'मुनने टोंटे का जिन्न' जैसी कहानियाँ लेकर जिन्नों के नाम इत्यादि बदलकर पत्रिकाओं में भेजना। साथ ही तिथि-त्योहारों से संबंधित लेख, परिचर्चाओं आदि का जोड़-तोड़ बिठाता रहता। पुराने व्यंग्यकारों के नाम से छपे लतीफे नये व्यंग्यकारों के नाम देकर आसानी से छप जाते। फिर भी पारिवारिक जीवन का मूल स्वर संघर्ष ही रहा। संघर्ष का 'साइकल' (चक्र) कुछ इस तरह चलता—पत्नी का मुझसे, मेरा पुत्री से, पुत्री का पत्नी से और पत्नी का फिर मुझपर ही आकर साइकिल पूरा होता। हार कोई नहीं मानता था। सब आम बुद्धिजीवियों की तरह संघर्ष को ही जीवन का मूलमंत्र मान और गुर्राते, चीखते-चिल्लाते, बक-झक करते रहते। आखिरकार मेरी हिम्मत छूट गयी। चुपचाप किसी को बताये बिना नदी-सागर में छलांग लगाने चल दिया। पर कुछ दुश्मनों द्वारा बचा लिया गया। वे सद्यःस्नात मुझे निकाल लाये और जो कुछ अब तक सीधी तरह नहीं कह सके थे, वह मेरी 'आत्महत्या' की निंदा के बहाने कह-कहकर मुझे धिक्कारने लगे। गरज यह कि मेरी थुक्का-फजीहत करवाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी गयी। मुझे याद है किस तरह मेरी पत्नी बंदूक की गोली की तरह दनदनाती हुई आयी और मुझे कायर, नपुंसक, मूर्खादि कहती चली गयी। मैं सद्यःस्नात सिर झुकाये बैठा ही रहा।

फ्लैशबैक के जरिये मैं आपको अपने उन शृंगारिक मुकामों पर ले चलता हूँ, जहाँ दजला-फरात की तरह लहराती मेरी प्रेयसियों का भूगोल फैला पड़ा है। चूँकि मुझे मालूम है कि आत्मकथा-लेखन की पहली शर्त ईमानदारी है, अतः मैं सब-कुछ खुलासा बयान करूँगा। यों भी मुझमें कोई 'गिल्ट' नहीं। इसलिए कि अब मेरा कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता। पहले यह सब लिखता तो अवश्य लोग-बाग थोककर, लफंगा आदि कहते, थू-थू करते, पर अब यह मेरी बेशर्मी नहीं, ईमानदारी कही जानी चाहिए। अतः प्रेम के नाम पर किये अपने कुछ शर्मनाक कारनामों को काबिले-बयान समझता हूँ।

चूँकि मैं होनहार बिरवान था, अतः पत्ते काफी चिकने थे। इसलिए तमाम चिकनी चीजों की तरह कई-कई बार फिसला। हर बार मुहल्ले-टोले के बाप, भाईनुमा लोग आस्तीनें चढ़ाये जमा होते। मैं निहायत संजीदगी

मे उन्हे यह ममझाने की कोशिश करता कि यह सब किया नहीं गया है, हो गया है। मेरी बात तो वो लोग क्या खाक ममझते, हाँ, इस बीच कुछ बीच-बचाव-प्रेमी आ जाते और मारे बापो, भाइयों को जबरदस्ती खींच ले जाते। जाते-जाते भी, वे सब मुझे मुड-मुड़कर देखते, गुर्राते और एकाध हाथ-पाँव भी झटक देते। मैं निश्चित हो जाता। लेकिन 'अति' हर चीज की बुरी होती है। अतः अति निश्चितता की वजह से ही मैं पकड़ा गया। इश्क का वह रग मुझे अब तक याद है। मेरे दोनो कान लाल, घुटने नीले और सारा शरीर धुनी हुई रूई की तरह सफेद हो गया था। घाव सूखने के साथ ही मेरी शादी हो गयी और मैं दजला-फराती भूगोल का अध्याय अधूरा छोड़ नादिरशाही आक्रमण के कारण और परिणाम समझने के लिए मजबूर हो गया। वह मजबूरी आज तक बरकरार है। कहते हैं इतिहास अपने को दोहराता है, सो गलत नही।

झूठ बोले कौआ काटे,—जी हाँ, लोग कहते हैं, सच्चा साहित्यकार भोगकर लिखता है—मैं कहता हूँ, लिखकर भोगता है। एक शब्द मैं कहूँ तो लिखना ही भोगना है और भोगना ही लिखना है। वही सयानी कहावत फिर दोहराऊँगा कि भोगते, लिखते हुए अर्थात् फारसी छाँटते हुए भी अंततः तेल ही बेचना है। इसलिए सावधान ! जितना लिखेंगे उतना भोगेंगे; अतः अच्छा हो पहले आप अपनी 'कैपेसिटी' अंदाज लें। ममझदार का इशारा काफी। भाइयो और बहनो, थोड़ा लिखा बहुत समझना, उसी अनुसार लिखने की हिम्मत बाँधना। इस 'आत्म-कथा' को अपनी ही आत्मकथा समझना। यों भी सच-सच कहूँ तो आत्मकथा में और होता क्या है, वही रोजी-रोटी, कुठा-संत्रास, शादी-ब्याह, मुडन-छेदन, मूल 'गुर' या 'फंदा' यही है। पाठक के पक्ष में इतना ही कहना पर्याप्त है कि जो पढ़े वो पछताये, जो न पढ़े वो भी पछताये।

अत में इतना और निवेदन कर दूँ कि और भी बहुत-कुछ चटखारेदार इस 'आत्म' में सुरक्षित है, जो 'कथा' के माध्यम से ही उद्धार पायेगा। आपका प्रेम और श्रद्धा बनी रहे, और क्या !

नोट: इस 'आत्मकथा' को अपनी आत्मकथा के रूप मे छपवाने के लिए लेखिका की लिखित अनुमति अनिवार्य है। ▭

हिंदुस्तान के कुछ चुनिंदा फल

अनाज की पैदावार को लेकर तो यह कहना कठिन है कि अपना देश अभी आत्म-निर्भर हुआ या नही, क्योकि सरकारी आँकड़ों और विपक्ष के आँकड़ों में हमेशा वही अन्तर होता है जो आम और इमली मे, जमीन और आसमान में। लेकिन जहां तक कुछ खास किस्म के फलों का सवाल है, हमारे यहाँ इनकी जमकर खेती होती है।

आप शायद समझें कि मैं आम, जामुन, कटहल आदि विशुद्ध भारतीय फलों और इनसे बनने वाले शीतल पेयों की बात करने जा रही हूँ जो ग्रीष्म-ऋतु में शरीर के लिए शीतल और लाभप्रद होंगे, लेकिन आपका अनुमान गलत है। ये सारे फल सिर्फ शरीर के लिए स्वास्थ्यवर्द्धक होते हैं और आप भूल जाते हैं कि हमने, हमारी समूची नीति-परम्परा ने, कभी शरीर को महत्त्व दिया ही नहीं (दिया होता तो गरीबी और भुखमरी का नामोनिशान मिट न गया होता ! लेकिन खैर, हमें उसकी परवाह भी नही।)। हमने महत्त्व दिया मन को, मस्तिष्क को और आत्मा को और उनकी खुराको को; मरने दो शरीर को सूखे, बाढ और बेरोजगारी से। आत्मा तो अजर-अमर है—वह न सूखे से मरती है न बाढ में बहती है और वोट देने के लिए हमेशा तैयार रहती है'''सो हम तो उस सदाबहार आत्मा की सलामती का तावीज बेचते हैं। और इस तरह कि सुनने वाले हमारी सेलसमैनशिप को दाद दिये बिना नही रहते।

लेकिन बात यहाँ फलो की हो रही थी—मन, मस्तिष्क और आत्मा को चंगा रखने वाले फलों की, जैसे सब्र का फल, सतोष का फल, नेकी का फल, ईमानदारी का फल और फलों का राजा ज्ञान का फल।

आपने ज्ञान का फल चखा है? मैने नही चखा, इसलिए पूछ रही हूँ कैसा होता है? ज्ञानियों के मिजाज को देखकर तो लगता है, काफी कसैला होता होगा। इसी डर से कभी चखने की हिम्मत नही पड़ी। लोग कहते रह गये चखो, मूर्खो ! चखो ! चखो ! इसका कसैलापन ही तो इसकी विशिष्टता है ! वही ज्ञानियों को सामान्य से विशिष्ट (कसैला) बनाता है ! तभी तो वे

ढाक के तीन पात की तरह जैसा-का-तैसा रहा···हारकर बेचारे लोग घबराये। वापस हीरोहोंडा वालों के पास भागे-भागे गये कि भूलचूक लेनी-देनी, हीरोहोंडा ले लो और बेटी ब्याह लो, पर इस बार उन्होंने मुंह विचकाकर कहा—हीरोहोंडा का जमाना गया, जनाब! 'मारुति' का दम हो तो बात चलाइये, वरना बेकार अपना और हमारा समय नष्ट न कीजिए। वे लोग समाज के इस तरक्कीपसंद तेवर को देखकर दंग रह गये···नतीजा यह हुआ कि न वे अपनी बेटियों के हाथ पीले कर पाये, न हीरोहोंडा वालों का मुंह ही काला कर पाये।

कुछ इसी किस्म का हाल बाकी फलों के शौकीनों का भी दीखा। नेकी करने वालों को मील-भर दूर से ही देखकर अंदाजा लग जाता है कि या तो ये नेकी करके आ रहे हैं या अनिश्चितकालीन अनशन करके। और ईमानदारी के फल का तो यह हाल है कि लोग-बाग इसका 'टेस्ट' ही भूल गये हैं। इसका जिक्र करते घबराते हैं। कोई खाना ही नहीं चाहता इस फल को। इसलिए अब बड़े औने-पौने दामों पर बिका करता है—जो भी इसे खाता है वह मारा-मारा बावला-सा फिरा करता है। कायदे के समझदार सयाने लोग तो इसे हाथ ही नहीं लगाते। उल्टे गँवई-गँवार लोगों का फल समझकर मजाक उड़ाते हैं। इसलिए अब सिर्फ बेवकूफ और नासमझ, नादान किस्म के लोग ही इसे खाया करते हैं। अगर आप साहबानों में से किसी को इसकी थोड़ी-बहुत भी लत हो या शौक रखते हों, फौरन इस लेख को पढ़ने के साथ ही, इस खतरनाक, जानलेवा शौक से तौबः कर लीजिए।

हजारों में एक-दो जो कभी कोई नया शौकीन यानी नौसिखुआ इस फल को चखने की हिम्मत दिखाता है तो लोग आसमान की तरफ उँगली उठाकर उसके रहमो-करम की भीख माँगते हुए कहते हैं कि—हे पिता! यह बेचारा नहीं जानता कि ये क्या करने जा रहा है। अब इसकी खैरियत नहीं। इससे तो अच्छा था कि ये खुदकशी कर लेता, सीधे-सीधे पाँवों में कुल्हाड़ी मार लेता या फिर शारजाह का क्रिकेट मैच देख लेता। लेकिन यह इस शख्स ने क्या करने की ठानी प्रभु! सो सुबह-सुबह, भूल से, नेकी की सँकरी गली में पाँव देने वाले, इस भटके व्यक्ति को शाम तक भ्रष्टाचार के राजमार्ग पर लौटा देना। आमीन···

□

रंगबदल नीति और खरबूजे

हिन्दुस्तान का एक नायाब फल खरबूजा है। इसकी खूबी यह है कि खरबूजा खरबूजे को देखकर रंग बदलता है। इस फल ने हमारे देश की राजनीति को खतरे की हद तक प्रभावित किया है। इस दृष्टि से भारत का राष्ट्रीय फल खरबूजा ही माना जा सकता है।

अब लोगो मे खरबूजा बनने की होड़ लग गई है। जिसे देखो वही दूसरे को देखकर रग बदल रहा है ! खूब रंग बदल रहा है ! इस तरह एक-एक खरबूजा कई-कई बार रग बदल रहा है। यहाँ तक कि अब वस्तुस्थिति यह हो गयी है कि एक के ऊपर एक रंग चढ़ाते-चढाते, डाई मारते-मारते, सारे-के-सारे रंग काले हो गये या कह लीजिए सारे-के-सारे खरबूजे काले हो गये और काले रग पर तो हर कोई जानता है कि चढ़े न दूजो रंग।

तो अब दूसरा रंग चढ़ ही नही रहा। दूसरे शब्दो मे, कालिख छूट ही नही रही, उल्टे गहराती ही जा रही है। खरबूजे न हुए दक्षिण अफ्रीकी रग-भेद नीति हो गये ! कुल मिलाकर रग-भेद नीतियो का यह इंद्रजाल-शो अपने शबाब पर है।

खैर, यह तो अपनी तरफ की स्थिति का बयान हो गया। अब दूसरी तरफ की रपट यह है कि इस मुद्दे को लेकर खरबूजो में, मतलब, असल के खरबूजो मे खासा असतोष व्याप रहा है। उनका कहना है कि हमने कभी रग बदले ही नही। यह शुरूआत तो आप ही लोगो की तरफ से हुई है। मुफ्त मे हमारे नाम और काम को बदनाम किया जा रहा है। हमारी साख गिरायी जा रही है। यह कहावत उनके लिए प्रेस्टिज-इशू बन गयी है और वे अपने हर रोजके समाचार-बुलेटिनो में इसकी कड़ी निंदा कर रहे हैं तथा इस रवैये के खिलाफ कड़ा-से-कडा कदम उठाने का आश्वासन भी दे रहे है एक-दूसरे को।

असन्तोष व्यक्त करने का उनका अपना तरीका है। सुनने में आया है कि जिस तरह अभी तक हमारे यहाँ किसी को रंग बदलता देखकर फौरन रोक दिया जाता था कि अमाँ ! आदमी हो कि खरबूजा ? इसी तरह अब खरबूजे अपनों में से किसी को ज्यादा लुढ़कते-फड़कते, पैंतरे बदलते देखकर, फौरन यह कहने से बाज नहीं आते कि अमाँ, खरबूजे होकर दो कौड़ी के आदमियों की तरह रंग बदल रहे हो ?

बात कंट्रोवर्सी में बदल रही है। हम वैसे भी आजकल कंट्रोवर्सियों की गिरफ्त में हैं, एक तरफ से फेयर फैक्स से लेकर आर्म्स डील तक। अब इस परम्परा में एक और कड़ी जुड़ गयी। पता कैसे लगाया जाय कि पहल किसने की ? परम्परा किसने चलाई रंग बदलने की ? खरबूजों ने या फिर आदमियों ने ? वही चिरन्तन सवाल —पहले मुर्गी हुई या अंडा ? वह पहला खरबूजा या वह पहला आदमी कौन था जिसने सबसे पहले रंग बदला ? (शोधार्थी कृपया नोट करें—शोध के लिए नया ज्वलंत विषय) बदला जिसने भी हो लेकिन वह परम्परा आज फल-फूलकर लहलहा खूब रही है।

इस परम्परा के साथ-साथ जमाना इस कदर बदला कि जिस किसी ने इसके खिलाफ आवाज उठायी या रंग बदलने से साफ-साफ इन्कार किया उनकी खेती पर ओले बरस गये। वे बाजार से खदेड़ दिये गये। उनपर सत्ता की छुरी गिरी और उन्हें कुर्सी छोड़नी पड़ी। दरअसल वे इस पुरानी कहावत को भूल गये थे कि खरबूजा छुरी पर गिरे या छुरी खरबूजे पर, कटता खरबूजा ही है। जान-बूझकर नादानी की। रंग बदल देते तो काहे को छुरी गिरने की नौबत आती ! पर सब खरबूजे एक-से नहीं होते न, उसी तरह जैसे आदमी-आदमी में फर्क होता है। कोई रंग बदल देता है, कोई छुरी की धार झेलने की ताकत बटोर लेता है।

कुछ भी हो, इस अदने-से फल की बिसात और इस कहावत की साख माननी ही पड़ेगी कि कैसा तो एक अदना-सा फल और इतने बड़े मुल्क को अपने ढर्रे पर लुढ़काता चला जा रहा है ! मुल्क अर्थात् मुल्क के खरबूजे ही तो सब-के-सब अड़ंगी लगाकर एक-दूसरे को यहाँ से वहाँ लुढ़काते जा रहे हैं—बेपेंदी के लोटे की तरह !

लोटा आप नहीं जानते होंगे। पुराने जमाने में इसका प्रयोग खेतों पर

जाने के लिए किया जाता था। धीरे-धीरे समय बदला। मुल्क ने तरक्की की। आज लोटे की जगह डालडा इत्यादि के ज़ंग-लगे डिब्बों का प्रयोग किया जाने लगा। इतना ही नहीं, आबादी बढ़ने की वजह से अब खेतों के साथ-साथ रेलवे लाइनों, पाइप लाइनों से लेकर आमो-खास सड़क-फुटपाथों पर, इनका प्रयोग बहुतायत से किया जाने लगा है। इस प्रकार हमारी परम्परा सुरक्षित है। लगता नहीं कि आने वाली शताब्दी भी इस परम्परा को बदलने का दुस्साहस दिखायेगी। विदेशी टूरिस्ट बड़े कौतुक से इस किस्म की परम्पराओं को अपनी डायरी में नोट करते चलते हैं।

लेकिन बात खरबूजों की हो रही थी। तो जिसे देखो वही लुढक रहा है। देखकर बड़ी खीझ और हैरानी से कहा "ऐसे नहीं लुढ़कते। मालूम भी है इस तरह लुढकते हुए कहाँ जा गिरेंगे आप?"

"जी हाँ—इक्कीसवीं सदी में।"—उन्होंने हँसते हुए अपने काईयेपन से कहा।

मैंने चिढ़कर कहा—"जी नहीं, रसातल को…"

"एक ही बात है।" उन्होंने आश्वस्त-भाव से कहा और पूर्ववत् लुढक लिये।

तमाशबीन देख रहे हैं उन्हें लुढकते हुए, और लाचारी में गा रहे हैं—

किस मोड़ से जाते हैं ये सुस्त-कदम रस्ते…

बगैर यह जाने कि आगे अंधा मोड़ है।

प्रीति किया दुःख होय बिन्ना

बीस साल बाद। हाँ, हाँ, शादी के ठीकमठीक बीसवें पायदान से मैं बिन्नो बोल रही हूँ बिन्ना ! तेरी ही नहीं, तेरी जैसी तमाम बिन्नाओं की भलाई के लिए कि—बिन्ना ! प्रीति किया दुःख होय।

और वह भी आज के दिन इसलिए और भी, क्योंकि यह मौसम जरा खतरनाक किस्म का है। इसमें आम भी बौराते है, आम और खास आदमी भी। यानी कि यह मौसम आम और खास आदमी में फर्क नहीं करता। तो मेरा फर्ज है कि इस मौसम का कहर टूटने से पहले अपनी बिन्ना या ज्यादा फैशनवारी हुई तो बिन्नियों को आगाह कर दूँ कि बिन्नी डियर ! प्रीति किये दु.ख होय !

क्योंकि थ्योरी में तो लोग छाप दें कि ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय'''लेकिन प्रैक्टिकल तजुर्बा क्या बोले है कि ढाई अक्षर प्रेम का पढे सो दुर्गत होय।

तू पूछेगी, कैसे ? तो मैं कहूँगी ऐसे कि एक तो शुरू से ही इसमें रिस्क बहुत रहता है। पहले तो लोकेशन वगैरह जरा कायदे की होनी चाहिए। या तो खुली आबोहवा वाले सड़क-बाजारों, गली-चौराहों वाली'''नहीं तो फिर फैले आसमानों वाली छतें, मुँडेरें हों'''जहाँ एक छत से ठुनगी खाकर उठी हुई प्रेमपतंग लहराती हुई दूसरी छत की मुंडेर पर पटाक से गोता खाती है। अब रिस्क यही कि खा गयी तब तो ठीक, वरना धुकधुकी लगी रहती है कि कहीं बीचोंबीच की मुँडेर वाला विलेन धागे मे कंकड़ बाँधकर खट से काटकर पतंग की डोर अपने हाथ में ले ले तब ? कितने मामलों मे ले ही लते है। तो चलो, अब बाकी की सारी उम्र 'मेरी जिंदगी है क्या, इक कटी पतंग है'''' वाला कोड दोहराते रहो। उधर माँ-बाप ऐसे जालिम कि किसी कोड की भनक पाते ही मानुप की गंध, बिन्नो की अम्मा मानुप

की गध···कहकर तावड़तोड़ खुफियागीरी में जुट जाते हैं।

तो बिन्ना! बस इन्हीं किल्लतों की वजह से मैंने प्रेम-शेम नहीं किया, बाकायदे शादी कर ली। सोचा, प्रेम का क्या है, धीरे-धीरे होता रहेगा, हो जाएगा। और नहीं भी हुआ तो कौन सुरखाब के पर झड़ जाएँगे? प्रेम नहीं हुआ तो क्या, घर में टी. वी., फ्रिज, सोफा तो होगा। और वही हुआ। आपकी दुआ से मेरे घर में उससे कहीं ज्यादा सरोसामान आ सजे हैं···वो क्या कहूँ, सोफा-कम-बेड, पलग-पलंगरी, ठंडी-गर्म मशीनों की कौन कहूं, वी. डी. ओ., मोटरकार तक···और जो कहीं प्रेम किया होता तो प्रेम की साँकरी गली में, जहाँ टुटही साइकिल तक का ठिकाना नहीं, मोटरकार दौड़ती भला?

और फिर प्रेम की भी कोई कमी अखरती हो, वह बात भी नहीं। सुबह से शाम, आठों पहर, चारों तरफ प्रेम ही तो चला करे है। रेडियो में, टी. वी. में, और उससे भी ऊब जाओ तो पिक्चर हॉल में···जिधर देखो टकें सेर प्रेम-ही-प्रेम···थोक और खुदरा दोनों भाव। रही बात जिंदगी की तो जिंदगी में तो शायद यह होता भी नहीं। कम-से-कम मैंने तो इस ढाई अक्षर वाले निगोड़े की शक्ल देखी नहीं। बस पति परमेश्वर की सूरत देख-कर उठूं और उन्हीं की सूरत देखकर बैठूं। (सिर पर हाथ देके!) और बिन्ना! इसी में खैरियत भी है। जहाँ वे एक तरफ बैठकर सरकारी महकमे का काम तमाम करते हों, वहाँ दूसरी तरफ खुद भी बैठ लिये और किसी स्वेटर के सीधे के उल्टे करते रहे।

फिर भी कभी-कभी गफलत हो ही जावे है। अब जैसे एक दिन हमारी उन्हीं सीधी-उल्टी प्रक्रियाओं के बीच गुलामअली कैसेट में लहरा ले-लेकर गाने लगा—

वो तेरा कोठे पे जलते पाँव आना याद है···

बड़ा भला लगा। तो सोचा, बाजू में बैठे भले आदमी को भी सुना दूँ। सो खास 'बुनियादी' लहजे में दुलराकर कहा—

"अजी छोड़ो भी···आप तो सारे दिन इन्हीं निगोड़ी फाइलों की ऐसी-तैसी करते रहे हो···मेरी तो कोई बात ही न सुनो—न सही—पर गुलामअली की तो सुन लो···!"

और कैसेट रिवाइंड कर दिया—

दोपहर की धूप में, मुझको बुलाने के लिए—
वो तेरा कोठे पे जलते पाँव आना याऽऽद है।
चुपके···चुपके···

भले आदमी सचमुच संजीदा दिखे—"वाकई आजादी के उनतालीस साल बाद भी यह आलम है कि बहुत-सी गरीब लड़कियों के पास चप्पलें नहीं हैं···लेकिन हमारे प्रतिभाशाली और युवा प्रधानमंत्रीजी के नेतृत्व में हम शीघ्र ही ऐसी परियोजना लागू करने जा रहे हैं जिसमें लडकियों को जलती धूप में नंगे पाँव न चलना पड़े। लेकिन फिर भी अब समस्या तो है ही। कोई जादू की लकडी तो घुमायी नही जा सकती। इसलिए धीरे-धीरे···"

मैंने तडपकर कहा—"बस, यही समझे ? और कुछ नही ?"

उन्होंने ताज्जुब से कहा—"क्यों, इतना काफी नही ? और हजार वोट ज्यादा ही बटोरे जा सकते हैं···"

"हे भगवान् ! कभी तो वोट को ओट किया करो !···जरा ध्यान से सुनो···कुछ बेहद नाजुक किस्म का अबोध बचपाना-सा···"

और अबके जो उन्होंने ध्यान से सुना तो चेहरे पर हजार लानतें बटोरते हुए बोले—"ओह···तो यह बात है ! उधर दोपहर में माँ-बाप जरा थके-माँदे सुस्ताने पे हुए तो ये लोग इधर छत पे गुल खिला रहे हैं···और आप यानी कि एक इज्जतदार शौहर की बेगम इस शर्मनाक माजरे पर लहालोट हुई जा रही हैं···!"

मैं पसीने-पसीने हो आयी। चेहरा जमीन की ओर गड़ गया। थोड़ी देर बाद वे पास आये। चेहरा उनका भी पसीने-पसीने—बोले—"एक बात बताओ !"

"पूछिए आलीजाह !"

"तुम इन गुलामअली को कब से जानती हो ?"

मैं जानती हूँ बिन्ना, तू "उसके बाद क्या हुआ" के लिए कान खड़े किये बेताब है, लेकिन मैं भी बुनियाद-स्टाइल यह एपिसोड यहीं पर खत्म करती हूँ। हाँ, तेरा दिल जलाने को इतना बता दूँ कि फिलहाल अभी उसी

चतुराई से, उसी जमीन पर सोफासेट, पलंग-सहित बहाल हूँ।

तू पूछेगी, इत्ती चतुराई, इत्ता सयानापन, कहाँ से सीखा? तो मैं कहूँगी कि स्कूल में अपना पाठ ठीक से याद करती थी न! तुझे वह दोहा याद है जिसमें कबीर बाबा ने "कुत्तों से सावधान" की तर्ज में हमारे-तुम्हारे जैसों को सावधान करते हुए कहा है कि—

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाँहि।
सीस उतारे भुइँ धरे, तब बैठे घर माँहि॥

बस, मेरी तो तभी से घिग्घी बँध गयी थी। कान पकड़कर तौबः कर ली थी कि प्रेम का कुडा भूल से भी नहीं खटकाना, अपनी खाला ही अच्छी। साबुत-के-साबुत जहाँ बनपीस में हँस-बोल, उठ-बैठ सकें। नहीं तो वहाँ घुसने से पहले ही सीस की फीस।

तो तू भी बिन्ना, कभी ऐसा मौका आये तो खाला के घर ही चली जाइयो। सीस-बीस कटाने की बेवकूफी ना करियो, क्योंकि मैं तो डंके की चोट पर कहूँगी कि गाने को लोगबाग भले गायें कि—

सिर कटा सकते हैं लेकिन सिर झुका सकते नहीं…

लेकिन हकीकत यही है कि मौका आने पर सब सीस झुकावें-ही-झुकावें, कटावे कोई नहीं। और सुन, जो सच के कटाने वाले होते हैं न—वे घूम-घूमकर गाते नहीं।

तो तू अब खुद फैसला कर ले बिन्ना, कि क्या तुझे इस प्रेम की पंथ-कराल महा तलवार की धार पे—कलामुंडी खानी है या सोफा-कम-बेड पर बैठकर चैन की बाँसुरी बजानी है? मैं तो येई सीख दूँगी कि जिस पलड़े पर तुले मुहब्बत उधर भूल के नई देखना… ▭

एक अभूतपूर्व डिमांसट्रेशन : खाना ईंट का

शहर के स्पोर्ट्स-क्लब के सेक्रेटरी ने उनका परिचय देते हुए कहा : "आज आपके सामने जो महानुभाव बैठे हैं, उनकी जितनी भी प्रशंसा की जाये, कम है; क्योंकि वे कितने ही वर्षों से केवल ईंट खा रहे हैं। भारत के सारे डॉक्टर आपके शरीर की परीक्षा करके हैरान रह गये हैं और अब आप अपने शरीर पर विशेष वैज्ञानिक खोज करवाने तथा ईंट खाने का कार्यक्रम दिखाने के लिए कुछ समाजवादी देशों के निमन्त्रण पर विदेशयात्रा पर जाने वाले हैं। साथ ही आप पर विशेष शोधकार्य करने के लिए प्राणि-शास्त्र के मेधावी भारतीय छात्रों का एक दल अमरीका जा रहा है। अब आपका अधिक समय न लेकर मैं प्रार्थना करूँगा कि आप ईंट खाना प्रारम्भ करें।"

वे शायद भूखे थे। भाषण समाप्त होते ही उन्होंने सामने मेज पर रक्खी धुली ईंट प्लेट से उठाकर कटर-कटर खाना शुरू कर दिया। वे संतोष-पूर्वक खाते रहे, हम टुकुर-टुकुर देखते रहे और दिल-के-दिल में जल-जल-कर खाक होते रहे—न ये थी हमारी किस्मत···

उन्होंने फटाफट दो-चार ईंटें खाईं और फिर उतावली दिखायी जाने की—कहीं और डिमांसट्रेशन देने जाना था। जाहिर है कि देश के कोने-कोने से उन्हें डिमांसट्रेशन देने के बुलावे आ रहे थे।

मैं हठी रिपोर्टरों की तरह रास्ते में अड़ ली और उनका इंटरव्यू लेने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने स्वीकृति दे दी।

मैं : आपने ईंट खानी कब से शुरू की?

वे : काफी दिनों से।

मैं : ऐसा शौक आपको क्यों लगा?

वे : क्योंकि खाने को और कुछ नहीं मिला।

मैं : ऐसा आप कैसे कह सकते हैं ? जब इतने सारे लोग किसी-न-किसी तरह अनाज खा सकते हैं, तो आप क्यों नहीं ?

वे : मुझे तो कोई ऐसा नहीं दिखता। फर्क बस इतना है कि मैं खालिस ईंट खा रहा हूँ और आप सब ईंटों के साथ कुछेक दाने गेहूँ-चावल भी। मैं कुछेक दानों का एहसान नहीं लेना चाहता।

मैं : अच्छा ! भविष्य में क्या आप अपना विचार बदलकर कुछ और भी खा सकते हैं ?

वे : आपका मतलब जहर से तो नहीं ?

मैं : (जल्दी से) नहीं-नहीं। मेरा मतलब खाद्य-पदार्थों से है।

वे : आज की परिभाषा में जहर को अखाद्य कौन कहता है ?

मैं : जी ''मेरा मतलब सामान्य भोजन से है।

वे : फिलहाल नहीं।

मैं : क्यों ?

वे : क्योंकि बड़ी मुश्किल से परिवार का बजट काबू में आया है।

मैं : अच्छा यह बताइए, ईंट खाने के बाद आप स्वयं को कैसा अनुभव करते हैं ?

वे : एक महान् देशभक्त !

मैं : वह कैसे ?

वे : क्योंकि खाद्य-समस्या का एकमात्र व्यावहारिक समाधान मैंने ही प्रस्तुत किया है। साथ ही मैंने जनता के सामने त्याग एवं बलिदान का आदर्श रक्खा है।

मैं : एक बात और। आपने देश के बड़े-से-बड़े डॉक्टरों को आश्चर्य में डाल दिया है। क्या आप बता सकते हैं कि आपके शरीर पर की जाने वाली शोध को इतना महत्त्व क्यों दे रहे हैं ?

वे : कि यदि कुछ दिनों तक मेरे शरीर पर कोई घातक प्रभाव न दिखे, तो वे स्वयं सपरिवार ईंट खाना शुरू कर दें।

मैं : अच्छा, आपने ईंट ही खाने का विचार क्यों किया ? इस श्रेणी की कोई और वस्तु क्यों नहीं ?

वे : मैं समझा नहीं ?

मैं : जैसे, कंकड-पत्थर, चूना-गारा, शीशा, लोहा आदि।

वे : इनमें से कोई भी वस्तु उतनी सहजता एव प्रचुरता से मुफ्त मे नहीं प्राप्त है, जितनी ईंट। राह चलते मुझसे सड़कों पर अपना भोजन चारो ओर बिखरा हुआ मिल जाता है। ईंट के साथ पत्थर भी प्रचुर मात्रा मे मिलते हैं सडकों पर; लेकिन उसे मैंने इसलिए नही शुरू किया कि बुढापे में दिक्कत होगी।

मैं : अच्छा, मान लीजिए आपको कही ईंट न मिले, तो आप अपने घर की ईंट उखाड़कर खायेंगे क्या ?

वे : बेशक ! मै किराये के मकान में जो रहता हूँ।

मैं : आपकी दृष्टि मे ईंट खाने का भविष्य कैसा है ?

वे : उज्ज्वल ! बहुत शीघ्र ही आप सब ईंट खाने लगेंगे।

मैं : लेकिन यह क्या सभ्यता का चरमोत्कर्ष कहा जा सकता है कि मनुष्य ईंट खाये ?

वे : नही ! सभ्यता के चरमोत्कर्ष के युग में तो मनुष्य मनुष्य को खाने लगेगा।

मैं : (सहमकर दो कदम पीछे हटकर) अभी तो वह युग आने वाला नहीं है न ? (सँभलकर) आपके विचार से सभ्यता को उस चरमोत्कर्ष तक पहुँचने मे कितना समय लगेगा ?

वे : निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। ईंट के व्यवसाय मे मदी आने पर ही ऐसा सम्भव हो सकेगा।

मैं : आपको ईंट खाने से क्या-क्या लाभ हुए हैं ?

वे : मुख्य रूप से तीन। पहला, बेरोजगारी की समस्या हल हो गयी।

मैं : समझी नहीं ?

वे : मतलब आप देख ही रही है, आपके सामने यह एक सौ एक रुपये और भरपेट भोजन। दूसरा लाभ यह हुआ है कि भोजन के साथ-साथ आवास की समस्या भी हल हो गयी।

मैं : (साश्चर्य) वह कैसे ?

वे : ऐसे कि अब जब मकान-मालिक किराये का तकाजा करता है, तो मै मकान खा जाने की धमकी दे देता हूँ।

मैं : बहुत खूब ! अच्छा तीसरा लाभ ?

वे . यह एकमात्र ऐसा काम मैं करता हूँ, जिस पर मेरी पत्नी को कोई आपत्ति नही।

मैं : अच्छा ! ऐसी हालत में आप अपनी पत्नी को भी ईंट खिलाना क्यो नही शुरू कर देते ?

वे : क्योंकि कोई भी काम जो मैं कहता या करता हूँ, वह कभी नही कर सकती।

मैं : क्षमा कीजिएगा, एक थोड़ा पर्सनल सवाल। आप नाराज होने पर, पत्नी पर सबसे बड़ा कौन-सा अस्त्र प्रयोग करते हैं ?

वे : मैं कह देता हूँ कि मैं आज से ईंट खाना छोड़कर बाकायदा भोजन करना शुरू कर दूँगा।

मैं : बहुत-बहुत धन्यवाद। बस एक अन्तिम प्रश्न—आप ईंट खाने का इतना प्रचार आखिर क्यों कर रहे है ? सरकार एव जनहित के प्रति इस रुचि का कारण ?

वे ' भरपेट भोजन ! सरकार मुग्ध भाव से परिवार-नियोजन एवं समाजवाद के साथ इसका प्रचार करेगी और जब बहुसंख्यक जनता ईंट खाने लगेगी, तो अनाज का भाव गिर जायेगा और मैं फिर से अपने पूर्व-भोजन पर आ जाऊँगा।

मैंने कृतकृत्य होकर उस दूरदर्शी को नमस्कार किया और धन्यवाद देकर क्लब की गाडी से उन्हे घर पहुँचवाया। काफी देर तक जाती हुई गाडी को मैं ईर्ष्याभरी आँखों से घूरती रही। ▭

अथ महापुरुषस्य लक्षणम्…चरित्रम्…हरकतम्

आप कितने बुद्धिमान हैं ?

आप कितने सहनशील हैं ?

आप कितने चुगलखोर हैं ?…आदि ऊलजलूल तथ्य आप विभिन्न पत्रिकाओं के माध्यम से अब तक जान ही गये होंगे। अब इस सम्मानित पत्रिका के माध्यम से सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य भी जान लीजिए कि—'आप कितने महान् है ?'

यों महापुरुषों के तमाम लक्षण हैं। संक्षेप मे जितने महापुरुष, उतने लक्षण; लेकिन जरूरी नही कि सारे लक्षणों को लेकर ही महापुरुष बना जा सके। अपनी आदतों, रुचियों और स्वभावों के अनुसार लक्षणों को चुनकर अलग-अलग श्रेणी का महापुरुष बना जा सकता है।

अतः यहाँ एक प्रश्न-तालिका दी जा रही है, यह जानने के लिए कि आप किस आयतन, घनत्व और परिभाषा के महापुरुष हैं। नीचे दिये प्रश्नों के सामने 'हाँ' या 'नही' के चिह्न लगाते जाइए और तालिका के अनुसार ही अंक भी देते जाइए !

अन्त में सारे अक जोडकर निष्कर्ष निकाल डालिए। मान ले आपके अंक पिचहत्तर प्रतिशत या इससे ज्यादा है, फिर तो कुछ कहना ही नहीं, परम आनदमय महापुरुष हैं आप ! भविष्य तो क्या वर्तमान भी चकाचक !

यदि अंक पचास से ऊपर हैं तो भी 'वादा' नही; वर्तमान ठीक-ठाक, भविष्य उज्ज्वल। अंक यदि पचास से कम हों, तो यह इस बात का द्योतक है कि इस लाइन में आपको काफी मेहनत-मशक्कत करनी पड़ेगी, तब कही टिकट उपलब्ध होगा।

लेकिन, यदि तीस से भी कम अक जुडते हों तो आप हमे कुछ कहने को न ही मजबूर करे तो अच्छा ! वैसे आप मजबूर नही करेंगे, तो भी हम

इतना कहे बिना न टलेंगे कि जाइए, आम आदमी की तरह भुक्खड़ की औलाद बने यहाँ से वहाँ डोलिए, यह महापुरुषाई आपके वश का रोग नहीं !

तो लीजिए, प्रश्न-तालिका पर गौर फरमाइए—

प्रश्न १—क्या आप (अ) च्यवनप्राश (ब) शहद या (स) काफी मात्रा में सूखे मेवे तथा फलादि का सेवन करते हैं ?

क्रम से च्यवनप्राश के लिए एक, शहद के लिए दो और सूखे मेवे, फल आदि के लिए चार अंक रखें।

आप पूछेंगे, पिस्ते-बादाम और खूबानी-अंगूरों को ज्यादा अंक क्यों ? इसलिए क्योंकि इन पदार्थों के सेवन से शरीर चुस्त-दुरुस्त और कांतिवान बनता है और ऐसा तेज—कांतिमय व्यक्तित्व ही राष्ट्र के लिए हितकर हो सकता है। रूखा-सूखा खाकर, खस्ता हाल, बेरोजगार भटकने वाले अपना हित ही नहीं कर पाते, तो राष्ट्र का हित क्या खाक करेंगे ? अत. राष्ट्र का हित ये चिरयुवा ही करेंगे न ?

प्रश्न २— क्या आप नियमित रूप से एक घण्टे, दो घंटे या चार घंटे योगाभ्यास करते हैं ? साथ ही योगासनों में विशेष रूप से वज्रासन, कंदरासन और वृश्चिकासन तथा भुजंगासनादि का अभ्यास करते हैं ?

क्रम से उसी प्रकार, पहले दो आसनों के लिए क्रमश. एक-दो तथा अंतिम दोनों अर्थात् बिच्छू और अजगर जैसी प्रकृति वाले आसनों के लिए चार-चार अंक रखें।

प्रश्न ३—महीने-भर में आपसे मिलने वालों की संख्या कितनी होती है ? दस से पन्द्रह ? बीस से पच्चीस ? तीस, चालीस या पचास ?

(नोट : कृपया धोबी, ग्वाले और बकाया बिल तथा उधारी माँगने वालों को शामिल न करें।)

इस प्रश्न के दो खंड हैं। उत्तरार्द्ध में मिलने आने वालों की आय तथा आकार-प्रकार का लेखा-जोखा भी रखना आवश्यक है, जैसे—ज्यादा संख्या चार-पाँच सौ आयवाले टुच्चों की होती है; आठ सौ से एक हजार पाने वाले अप्रत्यक्ष दलितों की या हजारों के वारे-न्यारे करने वाले मुस्टंडों, गुण्डों की।

अंक-क्रम वही रक्खें। याद रहे, मुस्टंडों की संख्या जितनी अधिक

रहेगी, आपकी महानता में उतने ही चाँद चार-चार के हिसाब से लगते जायेंगे।

प्रश्न ४—क्या आप अकसर मौनव्रत धारण करते हैं? (घर में पत्नी के सामने वाली स्थिति की बात नहीं की जा रही!)

(नोट—महिलाओं के लिए इस प्रश्न पर छूट है। उन्हे यह व्रत करना परम वर्जित है, क्योंकि विशेषज्ञों के अनुसार इससे उनके हार्ट-फेल तक हो जाने का खतरा रहता है। अतः इस प्रश्न के 'हाँ' के लिए निश्चित चार *अंकों मे दो अंक सभी महान् महिलाएँ ले सकती हैं।)*

प्रश्न ५—क्या आप वर्षा ऋतु मे वृक्षो का आरोपण, ग्रीष्म ऋतु मे प्याऊ और शीत ऋतु मे फटे-पुराने कंबल बाँटते हैं? यदि 'हाँ' तो इसमे आप प्रति वृक्ष दो अंक, प्रति प्याऊ तीन अंक और प्रति फटा-चटा कंबल, आधा अंक रखे। इन सबसे आपकी आय पर—

(अ) कोई असर नही पड़ता।

(ब) सामान्य मुनाफा होता है।

(स) काफी मुनाफा होता है।

(ईमानदारी से निशान लगाइए, आपकी महानता का सवाल है। इन्ही कसौटियो पर तो महानता कस-कसकर चरमपद को प्राप्त होती है।)

प्रश्न ६—क्या आप ग्रस्त क्षेत्रों के दौरो में रुचि रखते है? यदि हाँ, तो कैसे क्षेत्रों का दौरा अधिक करते है—दुर्घटनाग्रस्त, सूखाग्रस्त, बाढ़ग्रस्त या अन्य उपद्रवों, दंगो से ग्रस्त छोटे-मोटे क्षेत्रों का?

दौरे के लिए वाहन का इंतजाम—

(अ) स्वयं आपको करना पड़ता है?

(ब) कोई मोटा सेठ फँसा लेते हैं?

(स) पार्टी करती है?

इसी प्रकार बाढग्रस्त, सूखाग्रस्त आदि क्षेत्रो लिए आप जो चंदा इकट्ठा करते है वह—

(अ) सिर्फ आप हथिया लेते हैं?

(ब) चमचो मे भी बँट जाता है?

(स) काफी हिस्सा 'पार्टी' ले लेती है?

इन प्रश्नों में अंक-क्रम उल्टा रहेगा, अर्थात् पहले के लिए चार, दूसरे के लिए दो और तीसरे के लिए एक अंक।

अब आप मे से जो व्यक्ति पिचहत्तर प्रतिशत से अधिक अंक पाकर पुख्ता तौर पर महापुरुष प्रमाणित हो गये हैं, वे बधाई लें! और निश्चित हो जाये कि अब इस महापुरुषी चोले को उतारने की किसी माई के लाल मे हिम्मत नहीं। अब खुले मुँह खाइए और छुट्टे विचरिए, इस क्षेत्र के जंगल मे—कोई रोक-टोक, कोई मनाही नही। नियम-कानून सब भुक्खड़ों की औलाद के लिए है। *बड़े लोग इन नियम-कानूनों में बँधकर नही रहते।*

अब बादाम, शहद और च्यवनप्राश के बाद चाट का दोना भी चाट लेंगे आप, तो लोग कहेंगे—देखा! इतने महान् होते हुए भी चाट-जैसी दो कौड़ी की चीज खा रहे हैं, हमारी-आपकी तरह।

कभी रास्ते चलते पान की पीक मार दी तो लोग निहाल हो जायेंगे—*इतने बड़े आदमी हो गये, पर कार्य-व्यवहार वैसा ही, आम आदमियों जैसा!*

बात-बिना-बात किसी को छोटी-मोटी गाली भी निकल गयी तो हफ्तों सड़क-चौराहों पर चर्चे होंगे—वाह! आदमी हो तो ऐसा! सुना आपने? खुलेआम मातृभाषा में गाली बक दी! घमंड तो छू नही गया है। *धन्य है!*

सो यह सब टुच्ची हरकतें करता हुआ महापुरुष आप सब पर कृपालु हो'''ऐसी इस प्रश्न-तालिका के रचनाकार की प्रार्थना है!

सरे राह कुढ़ते-कुढ़ते…

प्रश्न : महोदया ! सुना है, विशिष्ट व्यक्तियों की अजीबो-गरीब तलब, नशा या लतें हुआ करती है। इनमे सबसे अहम तलब होती है कुढने की ·· क्या यह सच है ?

उत्तर : आपने ठीक सुना है। हम इस कुढने की क्रिया को तलब या लत नही, साहित्यकार का धर्म मानते है। और फिर आप जानो कि 'सुखिया सब संसार है, खावे और सोये' की तरह यह भी कोई जिन्दगी है कि न जले, न कुढ़े, न खाक होवे ? चल चुकी इस तरह रचनात्मक प्रक्रिया की गाडी ! अजी पैट्रोल ही नही, तो गाडी कैसे चलेगी ?

प्रश्न : महोदया ! तब क्या आप भी कुढती हैं ?

उत्तर : अब आपसे क्या छुपाना ? बता ही चुकी हूँ कि यह साहित्यकार का धर्म है। स्वास्थ्य की दृष्टि से जब तक हर रोज थोड़ा-बहुत कुढ नही लेती, भोजन पच नही पाता। एसिडिटी बढ जाती है और बदहजमी के साथ खट्टी डकारें आनी शुरू हो जाती हैं। साहित्यकारिता का मार्ग अलग अवरुद्ध होने लगता है। सो स्वास्थ्य का खयाल करके, समय और स्थिति के हिसाब से कमोबेश जितना हो सकता है, कुढ लेती हूँ।

प्रश्न : साधु ! साधु ! अच्छा, इधर आखिरी बार कब कुढ़ना हुआ ?

उत्तर : यही कोई हफ्ते-भर पहले, लीटर-दो लीटर पेट्रोल पड़ा था इस इजन में। थोड़ा ही सही, पर कुढ़ ली थी। सो शरीर स्वस्थ रहा और दिल को तसल्ली मिली कि साहित्यकार का कर्त्तव्य निबाहा। रचनात्मकता का जाम हुआ चक्का घरघराया तो सही ! आगे-पीछे स्पीड मारेगा ही।

प्रश्न : हफ्ते-भर पहले जो आप कुढ़ी, उसका श्रेय किसको देना चाहेंगी ?

उत्तर : हफ्ते-भर पहले जो कुढ़ी थी, तो इसका सारा श्रेय दूरदर्शन

को जाता है। यों कुछ खास बात थी नहीं कुढ़ने लायक'''एक बेचारा दयनीय-सा कवि था। कनखजूरे जैसा, जैसे कि आम तौर पर कवि होते हैं और कविता सुना रहा था, जैसा कि आम तौर पर कवि सुनाते हैं। दूरदर्शन वाले तो प्रोग्राम के नाम पर उसे जुटाकर जम्हाइयाँ ले रहे थे। लेकिन मैं थी कि उसी पर कुढ़ मरी कि ये दूरदर्शन वाले भी कहाँ-कहाँ के भुखमरे बुला लाते हैं! यह आदमी क्या दूरदर्शन पर दर्शाने लायक है? 'तन पर नहीं लत्ता, पान खाये अलबत्ता'। जिसके पास ढंग के कपड़े तक नहीं, वह भी दूरदर्शन पर हाजिर!

प्रश्न : लेकिन महोदया, उसकी कविता मान लीजिए ढंग की रही हो तो?

उत्तर : कविता ढंग या बेढंग की होने से क्या फर्क पड़ता है जी! कविता कितने लोग समझते हैं? लेकिन लिबास का कितना प्रतिशत टेरीन और कितना कॉटन है, दूरदर्शन का अदना-सा दर्शक भी समझता है। और फिर मैं कहाँ मर गयी थी? कविता ही पढ़वाना था तो मुझे नहीं बुला सकते थे? उन्हें नहीं मालूम था कि कहानी, उपन्यास, व्यंग्य और लेख के साथ-साथ मैं कविता भी लिखती हूँ? और नहीं मालूम था, तो पूछकर पता नहीं कर सकते थे? अनुरोध नहीं कर सकते थे'' कि 'सूर्यबाला जी! आप इतनी सारी चीजें लिखती हैं, कविता भी क्यों नहीं लिख लेतीं? हमें हर प्रोग्राम के लिए अलग-अलग आदमी ढूँढने में मुश्किल पड़ती है। लगे हाथों कुछ कविताएँ भी लिख डालिए और हन्ड्रेड परसेंट टेरीन पहनकर रेकॉर्डिंग करवा जाइए।'

प्रश्न . तो?

उत्तर : तो क्या? इसी प्रकार सामने टी० वी० पर प्रोग्राम चलता रहा और हम दीवाल के सहारे देखते-देखते कुढ़ते रहे!

प्रश्न . मेरा मतलब, कैसी अनुभूति होती है कुढ़ते समय?

उत्तर अजी, बड़ी जबरदस्त चीज है साहब! कहते हैं, 'सिर्फ अहसास है यह, रूह से महसूस करो।' तो यह वही चीज है। इस प्रक्रिया में दत्त हो जाइए तो पता ही नहीं चलता कि समय साला कैसे बीत गया? न जी का खयाल रहता है, न सारे जहान का। खाने-पीने की फुर्सत और

मुघ किसे ? मुट्ठियां कसते, आँख मीचते, आँखों-ही-आँखों में रात सालों गुजर जाती है, तब सिवा इसके क्या कहें कि—'पूछो न कैसे मैंने रैन बितायी !'

प्रश्न : आप कैसे और कब-कब कुढ़ती हैं, जरा [illegible] करेंगी ?

उत्तर : देखिए, कुढ़ने का तो सारा मजा ही यही है। जब तक चार-छह घंटे जमकर कुढ़ा न जाए, लुत्फ ही नहीं आता। मेरे एकांत का तो पचानवे प्रतिशत इसी प्रक्रिया को समर्पित है। चुपचाप बठे-बैठे कुढ़ती रहती हूँ ! अन्दर-ही-अन्दर जैसे किसी अज्ञात स्टेशन से ब्रॉडकास्ट होता रहता है—

यूँ ही कोई कुढ़ रहा था···

प्रश्न : अच्छा, आप शुरू से ही ऐसे ही कुढती आ रही है या इधर ज्यादा कुढने लगी है ?

उत्तर : पहले छोटे दर्जे के साहित्यकार थे, कम कुढ़ते थे। अब साहित्य के भरे-पूरे पंडाल में आ गये है, सो जिम्मेदारियाँ, व्यस्तताएँ बढ़ गयी हैं। पहले की अपेक्षा कहीं बड़े पैमाने पर कुढ़ना पड़ता है। बडा साहित्यकार होने के साथ ही सबसे अहम दायित्व लेखक का यही तो होता है कि इसमे लेखक की क्वालिटी बदतर हो या बेहतर, इससे किसी को कुछ खास फर्क नहीं पडता। लेकिन उसके कुढने की क्वालिटी और क्वांटिटी फौरन बढ जानी चाहिए, क्योंकि छोटी साहित्यकारी के जमाने मे जो काम खुदरे स्केल पर टुटपूँजिये किस्म का होता था, वह अब थोक व्यापार के रूप में योजनाबद्ध तरीके से होता है। महफिलें बैठती हैं, गोष्ठियाँ होती है, साथ-साथ मिल-जुलकर यह क्रिया सम्पन्न की जाती है। शास्त्रों मे इसे ही 'ब्रह्मानन्द सहोदर' का सुख कहा गया है।

प्रश्न : सुना था, बीच में आप पर कोफ्त का जबरदस्त दौरा पड़ा था, बहुत काफी मात्रा में कुढ गयी थी आप। जरा उस पर प्रकाश डालेंगी ?

उत्तर : जी हाँ, वो ऐसा था कि शहर की एक साहित्यसेवी सस्था ने मुझको आमंत्रित किया। कथाकथन के लिए मैं गद्गद भाव से पहुँची, तो देखती क्या हूँ कि दर्जन से ऊपर, साहित्यकार आमन्त्रित है सम्मानित किये

जाने के लिए। येल्लो, इन आँखों के सामने ही एक के बाद एक 'किंकर', 'प्यासा', 'धूलधूसरित', और 'व्यथित', साहित्य-शिरोमणि, साहित्य-चिंतामणि, साहित्य-कल्पवृक्ष और कामधेनु में तब्दील होकर गुजरने लगे। लानत है! कथाकथन करें हम और सम्मानित हों 'धूलधूसरित जी' और 'प्यासा'? सपने में भी इल्म न था कि इन आँखों के सामने एक दिन दूसरों को सम्मानित होते देखना पड़ेगा! अब वह जो दौरा पड़ा है, तो हफ्तों लोगबाग सामने नहीं फटके। कीर्तिमान स्थापित कर लिया इस क्षेत्र में। आपका मतलब इसी वाकये से है न?

प्रश्न : जी हाँ, जी हाँ! बहुत खूब! अच्छा, ये तो विशिष्ट स्थिति वाली बात हुई। अब रोजमर्रा की जिन्दगी में··?

उत्तर : रोजमर्रा की जिन्दगी में भी आप यों समझ लीजिए कि ऑटोमेटिक मशीन तो चालू ही रहती है। हम कुढ़ते रहते हैं किसी-न-किसी बात पर या बिना किसी बात पर!

प्रश्न : मसलन?

उत्तर : मसलन पड़ोसी सुखानी जी की नयी कार आयी है···कुढ़ गये सर से पाँव तक! भगत लोग माथेरान जा रहे हैं, कुढ़ लो जी! और यह भी नहीं, तो युवा पड़ोसी पीटर डिसिल्वा अपनी बीवी के हाथ-में-हाथ डाले सड़क से गुजर गया। बस, वहीं बालकनी पर खड़े-खड़े मतलब-भर को कुढ़ लिये!

प्रश्न : आपके हिसाब से कुढ़ने के लिए आज का माहौल ज्यादा उपयुक्त है या पहले का था?

उत्तर : बेशक आज का। वैसे भी आजकल के फ्लैटों में नयी स्टाइल की बनी बालकनियों का इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। गये जमाने के पनघट-चौबारे और कुंजगलियाँ तो निहायत भोलेपन से छेड़छाड़ कर दिया करती थीं, बस। आज की टैरेस और बालकनियाँ इस किस्म की गँवार और बचकानी हरकतें नहीं करतीं। उनकी वायरिंग 'कनसील्ड' होती है। अन्दर-अन्दर जलकर खाक हो जायेंगे, पर ऊपर से चेहरे पर शिकन तक नहीं है। ऐसे हालात में तो दिल के जबरदस्त झटके या पेसमेकर की फिटिंग के बाद ही बात सुर्खियों में आती है।

प्रश्न : साधु-साधु···अच्छा, इस क्षेत्र का स्कोप ?

उत्तर: जबरदस्त। इस लाइन मे भेदभाव बिल्कुल नही चलता। यह विश्वमंच है। इस मंच पर सब इकट्ठे कुढ रहे हैं। मन आये, जिस पर कुढ़िए। जाति-पाँति, धर्म-पेशे का कोई बंधन नही। न एस० सी०, न बी० सी०, न सीलिंग। जब जिस पर जितना दिल चाहे, कुढ़िए। यही एक ऐसी लाइन है, जहाँ मित्र और शत्रु के लिए भी दो आँखे नही की जाती। जितना दुश्मन की बढोतरी देखकर कुढते है, उससे ज्यादा ही दोस्त की कामयाबी पर खाक होते हैं। उसूल की बात है। उसूल नही छोड़ते हम !

प्रश्न : बहुत खूब ! मुझे लगता है, यही एक क्षेत्र है, जहाँ उसूल नाम की चीज बच रही है। अच्छा, चलते-चलते कोई संदेश आपकी तरफ से ?

उत्तर: वही गाना सुनवा दीजिए, फौजी भाइयो के मनोरंजन कार्यक्रमो में यह इन्टरव्यू भी शामिल हो जायेगा, यानी राष्ट्रीय स्वरूप को प्राप्त हो जायेगा···'कुढ़ते रहियो, ऐ बांके लाल ! हो कुढते रहियो, कुढ़ते रहियो, कुढते रहियो···!'

नौनिहालनामा बनाम—शीशा हो या दिल···

नौनिहाल पीडित हैं, महापीड़िता जुन्ने जमाने की पैदावार, माँ-बापो ने उन्हे कही का न रखा। क्या-क्या उम्मीदे और तमन्नाएँ थी, सब पर घड़ो पानी पड गया। और अब, किसी काम-धाम के नही हैं जो, तथा 'अब्वल दर्जे के खड्डूस हैं जो', ऐसे माता-पिताओं को सहन करते हुए नौनिहाल फ्रस्ट्रेटेड है, खाँटी फ्रस्ट्रेटेड।

फ्रस्ट्रेटेड होता हुआ वह चिन्तित है कि इन जुन्नो ने उसे न घर का रखा, न घाट का। करता क्या? घाटो में उन्हें सिर्फ एक ही घाट पसन्द आता था, जहाँ वह रट्टू तोते-सा किताबे घोटता रहे, कलम घिसता रहे और अन्त में दिन-रात कमर तोड़ने के बाद एक अदद कागज की उसी सनद को लेकर इधर-से-उधर दुम हिलाता फिरे, जो दूसरे नौनिहाल हँसते-खेलते उठा लाते हैं।

उन्होने हजारों बार अपढे, नादान 'कूप मंडूक' हैं जो, 'ऐसे माँ-बापो को समझाया होगा' कि—देखो, डैड, देखो मॉम! ये पढ़ाई-लिखाई करके मगज मारने का जमाना नही। ऐसी कमरतोड़ पढ़ाई करने वाले को डॉक्टर, इजीनियर, बैरिस्टर, मिनिस्टर कुछ नही, सिर्फ उल्लू बनाया जाता है, इसलिए जमाने के साथ चलने दो मुझे; देखो जमाना क्या कहता है—सबसे पहले तो जमाना कहता है कि—मेरी आवाज सुनो—आवाजें—जैसे कि रम्बा होऽ होऽ होऽ, सम्बा होऽ होऽ होऽ···और प्लीऽऽज, हक्वकाया बौड़म-सा चेहरा लिये, मुँह खोले इन शब्दों का अर्थ मत पूछिए—जो मजा शब्दों में है, वह अर्थ मे कहाँ? जो निरर्थक है, उसे निरर्थक ही रहने दो! और आप लोगों के हिसाब से चलें, तो भी तो आपके शास्त्रों मे लिखा है—शब्द ही ब्रह्म है, अब हमारा जमाना शास्त्रार्थ कर रहा है···रम्बा हो, सम्बा हो की भाषा में।

इसके बाद जमाना कहता है कि दुक्की-पर-दुक्की भी डाल सकते हो, सत्ते पे सत्ता भी। लेकिन अच्छा हो, अगर हमेशा नहले-पर-दहला ही डाला जाये। सो हम कटिबद्ध हैं। हमें उल्लू बनना नहीं, बल्कि बनाना है। जमाने को दिखाना है। अब साख कैसे जमती है कि वी० डी० ओ० कैसेट से और डिस्को दीवाने से—सो यह सब सरेआम तुम जुटाओ डैड, तो हम साख जमाकर जमाने को दिखा दें।

लेकिन कौन सुनता है! बस, यह एक जरा-सी मदद भी नहीं कर पायें, माँ-बाप कहलाने वाले जन्तु! क्या इन्हीं दिनों से रूबरू होने के लिए इन माँ-बापों के घर में जन्म लिया था? ये छोटी-छोटी ख्वाहिशें नहीं पूरी कर सके, तो इम्पाला और टोयोटा तो बहुत दूर की बात है। ठीक है, न करें—हम उनके आसरे हाथ-पे-हाथ धरे बैठे थोड़ी रहेंगे! मौके की ताक में रहेंगे—उड़ा देंगे कभी एकाध अदद, फॉरेन नहीं तो देशी ही सही। अपने दम-खम की तो रहेगी। और सबमें बढ़कर दिल में यह मलाल तो न रहेगा कि क्या किया हमने जिन्दगी में?

इन्होंने तो एक अदद जुमला रट लिया है हजार बार दोहराने के लिए—कि 'हमने आज तक जिन्दगी में न कभी ये सब कृत्य किये, न करेंगे' यानी स्वार्थ और दम्भ की चरमसीमा···जो अपने लिए नहीं किया, वह भला हमारे लिए क्यों करें आखिर? पूछो भला, फिर क्यों माँ-बापों का तमगा लटकाये फिरते हैं? अपन का तो चीखने-चिल्लाने और पैर पटककर घर से भाग-आने-भर का फर्ज बनता था, सो फर्ज पूरा कर आये। आगे वे जानें, उनका काम जाने!

समझते ही नहीं। कितना समझाया था कि हम आपके दुश्मन तो नहीं? औलाद हैं आपकी। वहीं मितर चड्ढा के माँ-बाप, सॉरी मॉम-डैड भी तो है—इतनी बार गये उनके घर, मजाल है जो कभी हनी-सनी से नीचे भूलकर भी एक शब्द हिन्दी, मराठी, गुजराती, यानी कि चौदहों भाषाओं में से किसी एक भाषा का निकला हो! और कोई हमसे ही नहीं, सबमें एक भाव; भाषा-विवाद की कोई गुंजाइश ही नहीं। गौर से देखिए, तो कमाल की बात है—इतनी ढेर सारी घुट्टी में पिलायी गयी चौदह भाषाओं में सबको छोड़कर पन्द्रहवीं छाँट ले जाना आसान चीज है क्या? लेकिन करने वाले कर ले

जाते हैं। जुन्ने जमाने की भाषा में कहें तो—'एक भरोसो, एक बल, एक आम-विश्वास'—अंग्रेजी का—और समझो बेडा पार—धन्य-धन्य !

भाग्यवान हैं वे औलादें, जिनके पसीने से ही एक्सपोर्ट क्वालिटी साबित हो जाती है। और एक्सपोर्ट क्वालिटी इण्डिया में रहने के लिए तो बनी होती नहीं, इसलिए देखते-देखते दो-चार लाख के डोनेशन पर एकाध अदद डिग्री दिलाकर उन्हें 'सेवन × सेवन' के बोइंग में जू ऽ ऽ म करके रातोंरात एक्सपोर्ट कर दिया जाता है। बाकी का हुजूम वकौल कवि नीरज के कारवाँ गुजर जाने के बाद का गुबार रह जाता है। बस, इसे कहते हैं शॉर्टकट की संस्कृति—कि देखते-देखते हममें-उनमें जमीन-आसमान का फर्क हो गया।

एक हमारे वाले हैं कि अपनी औलाद के सुखमय भविष्य के लिए छोटी-मोटी तदबीरें भी जुटा सकने लायक नहीं। कितनी बार समझाकर कहा कि फलाँ प्रेस में फलाँ विषय का पेपर छप रहा है। इतना रेट है। इतने-से-इतने बजे के अन्दर जाकर ले आइए। सभी ले जाते हैं; लेकिन ये सुनते ही उखड़ गये—लगे सिद्धान्तों के घुनघुने बजाने ! वही पुराने घिसे-पिटे तरीके से पास होने का उपदेश झाड़ने ! इन्हें कौन समझाए कि जमाना तरक्की पर है ? गये जमाने में एक तरीका था इम्तहान में पास होने का, आज हजार तरीके हैं। विज्ञान का युग है। तू नहीं और सही, और नहीं, और सही…अब एक अदने-से इम्तहान के लिए साल-दो-साल कमर नहीं तोड़नी पड़ती। हफ्ते पहले सही जानकारियाँ हासिल कर उतार दो। वही, हजार तरीके हैं, जिसे जो 'सूट' करे, उस तरीके से पास हो जाये। लेकिन इन जुन्नों को तरक्की-पसन्द विचार फूटी आँखों नहीं सुहाते। कहेंगे, 'इसमें तो फेल होना अच्छा !'

हम कब इन्कार करते हैं ? बल्कि गौर से देखें, तो आजकल पास और फेल में कुछ ज्यादा अन्तर रह ही कहाँ गया है ? फेल होने लायक लोग जब चाहें, तब पास हो सकते हैं, पास होने वाले न चाहते हुए भी फेल हो सकते हैं। लेकिन ज्यादा करके हम उसूल पर चलते हैं, यानी कि स्कूल-कॉलेज के रजिस्टर में जब नाम दर्ज होने पर है, तो लगे हाथों पास हो लें। और आप जुन्ने लोगों को हमारे पास होने से ही न मतलब है, सो कह दिया चुटकी बजाते पास हो जाएँगे। कैसे हुए पास—इससे मतलब ? आप आम खाइए,

पेड़ गिनने के चक्कर में मत पड़िए। लेकिन पुरातनों और नयों में यही तो फर्क है! हम आम खाने में विश्वास करते हैं, वे पेड़ गिनने में। खाने भी बैठेंगे, तो कुछ ठिकाना नहीं, कब खाते-खाते एकदम से उठकर कह देंगे—"ये आम हमें नहीं खाने।" कोई बहस नहीं की जा सकती। साफ नकार जाएँगे। और क्या कहते हैं उस घनघनाते-से शब्द को? हाँ, सिद्धान्त, तो फरमाएँगे—फलाँ आम हमारे सिद्धान्त से मेल नहीं खाता। और आगे-आगे जब यह सिद्धान्त नामक शब्द झण्डा लिये आता है, तो जाहिर है पीछे-पीछे जुमलों का एक खासा जुलूस भी होगा ही होगा—जिसमें आचार-विचार, जीवन-दर्शन, भ्रष्टाचार-उन्मूलन, नैतिकता, आत्मा आदि तमाम जुबान-तोड़ शब्द, जिन्हें न कभी देखा, न जाना, राशन की लाइन की तरह लाइन लगाये रहेंगे। जरा पूछो, हम कैसे विश्वास कर लें? कभी देखा-सुना है, क्या है इन जुमलों को? हमारी बात कीजिए तो डिस्को के दीवानों और रम्बा बनाम सम्बा पर विश्वास करते हैं। सो जब कहिए, दिखा सकते हैं इन चीजों को। अब आपसे पूछें कि जरा पूरे हिन्दुस्तान-भर में से छाँटकर एक अदद नैतिकता और जीवन-मूल्य दिखा दीजिए, एक फटी-पुरानी ही सही, आत्मा से इण्ट्रोड्यूस करवा दीजिए, तो कर सकेंगे आप? जाइए, ढूँढिए! मिल जाये, तो बताइए। आप बगलें झाँकने लगेंगे—ढूँढ नहीं पाएँगे। लेकिन वही, जुन्ने जमाने की जिद, हार नहीं मानेंगे।

समझा-समझाकर हार गये हम नौनिहाल···और अब तो दिल टूट गया है। इसे जुन्ने जमाने वाले कहाँ से समझेंगे! समझेगी, तो रीना राय और हाथ फटकार-फटकारकर हर आने वाले को रोक-टोककर कहेगी, 'शीशा हो या दिल···टूट जाता है टूट जाता है·· टूट जाता है।' वही पीढ़ियों का संघर्ष, नये-नये ताजे-ताजे शीशे हैं—पुरानी पीढ़ी इनके चकनाचूर होने का दर्द भला क्या समझेगी!

टूटने की बात ही है, हफ्ते-भर से एक भी पीरियड नहीं 'बंक' कर पाये, क्योंकि प्रिंसिपल का घेराव हो जाने के कारण कॉलेज ही बन्द हो गया। अब मिली हुई छुट्टी में वह मजा कहाँ, जो मारी गयी छुट्टी में! वही, कुछ कर गुजरने का सुख। छोड़ो, हम जुन्नों की तरह निराशावादी नहीं—कॉलेज रहा और हम रहे, तो कुछ-न-कुछ करेंगे ही, तब तक, 'दम मारो दम···'▭

पापी पपीता रे

कसम ! जब से यह पपीता लगाया अपने पिछवाड़े के किचेन-गार्डन मे, हमारे सारे दु:ख-सुख इसी पेड पर, पपीतो के साथ लटक गये है। शेष संसार में कोई स्वाद, कोई सार, नजर ही नही आता। बाहर आना-जाना, घूमना, फिरना—सब बन्द है। दिन-के-दिन पिछवाड़े की खिड़की पर आँखें लगाये, टकटकी बाँधे देखा किये हैं हम। कुल मिलाकर दिन का और दिल का चैन हवा हो गया है। शहर में बलवो का अन्देशा होने पर, दिल, सबसे पहले पेड़ पर लदे पपीतों के लिए बेचैन हो उठता है, तो यह तो होना ही था—ललित किशोरी इश्क रैन-दिन ये सब खेल खिलाता है ''।

यों बगीचे मे कचनार, नरगिस और वैजयन्ती भी है, लेकिन हमारे लिए तो अब 'इन पपीतो के सिवा दुनिया में रक्खा क्या है'''अपनी चकोर-दृष्टि सिर्फ उन्ही पर टिकी रहती है। लोग मसखरी करते है तो भक्ति-कालीन तहखाने से 'रहीम सतसई' निकालकर पाठ करने लगती हूँ—दिल को शान्ति मिलती है।—

कुमुदनी जल हरि बसै, चन्दा बसै अकाम।
जो जाही का चाहता, तो ताही के पास ॥

सो मैं पपीतो के आस-पास ही बनी रहती हूँ। पति-बच्चों के पास भी दिल घबराता है। शान्ति बस पपीतों के पास मिलती है।

मेरे इस पपीता-प्रेम का इतिहास कोई पुराना नही है, न इसका मेरे साहित्य का काव्य-प्रेम मे कोई नजदीकी रिश्ता है। यह शुद्ध रूप मे हालात की देन है। हालात भुखमरी के है। हिन्दुस्तान की चालीस प्रतिशत जनता, गरीबी रेखा के नीचे है। उस 'गरीबी रेखा' का कम-से-कम तीस प्रतिशत हमारे किचन-गार्डन के ठीक पीछे निवास करता है। अब ऐसे मे क्या पता कब, कौन, इस भखमरी की समस्या का समाधान हमारे पपीतो मे ढूँढ

निकाले ! और हुआ भी है कई बार ऐसा। जरा आँख लगी नहीं कि 'फेंस के इधर-उधर' मरसराहट मच गयी। हर बार ऐसी भनक लगने पर तड़प उठती हूँ। चौंककर, "कौन है, कौन है ?" कहते दौड़ी, लेकिन भुखमरी की समस्या का निदान ढूँढने वाला महान्, इतना नादान थोड़े ही होगा कि पपीते खाने के चक्कर में जूते खाने की नौबत बुला बैठे ! और फिर वही— छुप गया कोई रे…!

अब हालात ये हैं कि मेरे और उनके बीच यह आँख-मिचौली चल रही है। दिन तो दिन, रात को नींद में भी हड़बड़ा उठती हूँ—कोई है, कोई है ?…

"क्या बड़बड़ा रही हो सपने में ?" बेटा गुरगुराता है।

"सपने में नहीं, किचेन-गार्डेन में, कोई है।" मैं बदहवास हो कहती हूँ।

"गार्डेन में ? मम्मी ! तुम्हें 'पपायोमेनिया' हो गया है, सो जाओ चुपचाप। जगने पर किसी अच्छे डॉक्टर से इलाज कराओ।"

हाँ, हाँ, कहना आसान है। कैसे सो जाऊँ ? जिसकी बेटी जवान हो और जिसके किचेन-गार्डेन में पपीते लगे हों उसे नींद आयेगी भला !

याद में पपीतों की जाग-जाग के हम रात-भर करवटें बदलते हैं। यह आलम तो जब नन्ही-सी उमर में दिल लगाया था तब भी नहीं था जो अब इस उमर में पपीते का पेड़ लगाने पर हो गया है।

'प' से पति पुचकारकर सो जाने को कहते हैं लेकिन 'प' से पपीता नींद हराम किये रहता है। मैं अड़ जाती हूँ कि पहले टॉर्च लेकर किचेन-गार्डेन में चलो और पपीतों की सलामती की शिनाख्त करो, तभी सोऊँगी। इस तरह अमावस्या, पूर्णमासी के अँधेरे-उजाले कितने ही पखवारे हमने आधी-आधी रात सग-संग टॉर्च लिये पपीते के पेड़ के इर्द-गिर्द चक्कर लगाते गुजारे हैं। लोगों ने प्रेम का पहला सबक आधी-आधी रातों में इसी तरह याद किया होगा, हमने आखिरवाँ—क्योंकि उन्हीं पखवारों की एक रात पति मेरे सामने टॉर्च फेंककर दहाड़े थे—"ये रही टॉर्च और वह रहा तुम्हारा पपीते का पेड़। जाओ, दफा हो ! मुझे चैन से सोने दो !"

यह शॉक बर्दाश्त के बाहर था। जिन्होंने मेरे मायके के मुस्टंडे पंडित के कहने पर, भरे मंडप मे, जाति-बिरादरी के सामने, हर दुःख-सुख में साथ देने की कसम खायी थी, वे पक्की उमर में, कच्चे पपीतों के सहारे मुझे अकेला छोड़ गये, दगा दे गये! (अब समझ में आया कि सातों वचनों पर मुस्टंडे पंडित के डर और आतंक ने ही 'हाँ' कहलवा दी होगी।)

बहरहाल वे करवट बदलकर सो गये। मैं सिसकते हुए बोली, "हाँ-हाँ, तुम्हें क्या मतलब? पपीतों को तो क्या, चाहे कोई मुझे ही क्यों न उठा ले जाये। तुम उफ न करोगे, लब सी लोगे। पुलिस मे रपट तक नहीं लिखाओगे···लिखवाओगे।"

"तुम्हें?" वे लिहाफ से मुँह निकालकर, ठठाकर हँसे, "तुम्हें कोई ले जायेगा? मुफ्त मे? यहाँ एक-से-एक दान-दहेजवाली राशन की लाइन मे खड़ी केरोसीन खरीद रही है। और 'इन्हें' कोई ले जायेगा··· दुनिया में सब मेरी तरह अहमक हैं न!"

उस घड़ी पपीते के मोह ने ही रोक लिया, वरना खुदकशी कर लेती। वैसे भी, 'तंग आ चुके हैं कशमकश जिन्दगी से हम···।'

क्योंकि अकेली जान कहाँ तक रखवाली करूँ? पक जायेंगे तो सभी खाने आयेंगे। वो तो आयेंगे ही। बल्कि कहूँ कि अभी से आने शुरू हो गये हैं तो ज्यादती न होगी। अभी कल ही ऊपरवाली मिसेस चौबे कह रही थी, "इतनी बड़ी कॉलोनी मे मेरा दिल तो आप ही के पास आने को करता है··· कितनी सभ्य, सुसंस्कृत हैं आप! क्या नहीं है आपमें··· और आपके गार्डेन मे! आह! पपीते कितने लदे हैं? पच्चीस-तीस से कम क्या होंगे?"

यानी निगोड़ी ऊपर-ऊपर गिनकर बैठी है!

बहरहाल रखवाली वाली बात पर सभी बिदक गये, यह प्रस्ताव सर्व-सम्मति से पास करके कि तुम पपीते के बगल वाले कमरे मे खिड़की के पास बैठकर लिखती भी रहा करो और रखवाली भी करती रहा करो। वैसे भी तुम्हें लेखन से क्या मिलता है? रखवाली से पपीते तो मिलेंगे, यानी पौष्टिक आहार खाकर परिवार पुष्ट होगा···यह पुष्टई बच्चों और बच्चों के बच्चों के माध्यम से पुश्तों में संक्रमित होती चली जायेगी। और इस प्रकार

आज से हजारों साल बाद स
तरह, और पूरे हिन्दुस्तान
मात्र श्रेय जायेगा मुझे
की किसी लेखिका

इसलिए
कहानी, व्यंग्य
रही दिमाग में। बहु ... जे की है, पर
उसी लम्हे बगीचे में सरस ... ही गयी हो,
सट गयी। दृष्टि दूर-दूर तक ... लोगों को

देखा, एक बनैला नेवला दुम ... ?
में खो गया। फिर से बैठी। फिर सूझा, ... में
पर दौड़ी—इस बार नेवला शान से झूमता
लौट रहा था। करीब दसियों बार यही दृश्य रे।
नेवला हाथ धोकर मेरी रचनात्मकता के पीछे प
बिल्ली' की राम की बहू की पीड़ा आज समझ में आयी।
या तो आज यह नेवला रहेगा या 'फलाने' की बहू।

लेकिन फिर मन को समझाया, दोनों ही रहें तो क्या हर्ज है
फिलहाल इस नेवले की नीयत कम-से-कम पपीते की ओर तो नहीं ही।
मैंने अपने-आपसे प्रश्न किया, 'तो फिर मैं लिखती क्यों नहीं? आखिर मैं
तमाम विसंगतियों के बीच लिखना कब सीखूँगी?'

और मैंने अपने-आपको जवाब दिया, 'अभी, इसी वक्त।'

चाहे पपीते की खीर की व्यंजन-विधि ही क्यों न हो, लिखूँगी। बनैले
नेवले के बीच भी लिखूँगी। अपनी रचनात्मकता की मशाल जलाये रखूँगी
और फिर जिस तरह काम कोई भी बुरा नहीं, उसी तरह लिखना, कुछ भी
बुरा नहीं। पपीते की खीर या रायते की 'रेसिपी' ही क्यों न हो—लिख देने
से आदमी 'लेखक' या 'लेखिका' तो बन ही जाता है।

सो जुट गयी पूरे मनोयोग से; लेकिन व्यंजन-विधि पूरी हुई ही थी कि
जैसे सिर पर धड़धड़ाकर दीवार ढह पड़ी हो। पहले तो समझा, नुक्कड़-
वाली पी० डब्ल्यू० डी० की बनवाई हुई पुलिया होगी, यही हर साल इस

यह शॉक वर्दाश्त के बाहाथ घड़घड़ाकर ढहती है। लेकिन आवाज बगीचे से
कहने पर, भरे मंडप मे, जाआ दिल हाथों में सँभाले खिडकी से देखा।
की कसम खायी थी, वे पर
छोड गये, दगा दे गये ! नीचे, गरीबी रेखा की लाइन के पार रहने वाले आठ-दस
पंडित के डर और आलम्बे बांस में हँसिया बाँधकर लगभग सारे पपीते गिरा चुके
वहरहाल वे कजल्दी-जल्दी बीन रहे थे '''कौन है'''कौन'—कहते हुए जब
तुम्हे क्या मतलब -उधर देखूँ तब तक वे खिखियाते हुए पपीते बाँधकर, पिछली
जाये। तुम उफद, अन्तर्ध्यान हो चुके थे।
लिखाओगे'''रि जब तक मै लुटी-पिटी-सी किचेन-गार्डेन मे पहुँची, सब-कुछ शेष
"तुम्हे है था'''अब मै थी और मेरी तनहाई और उस पार लुढ़के दो-तीन
जायेगा ? मछोटे कच्चे पपीते (मेरे हिस्से के) ! चलूँ ! अब क्या लिखूँगी, खाक ?
खड़ी केरो रही हूँ, पपीते का कचूबर बनाने !
मेरी तर

वैसे

जीर्णोद्धार एक खस्ताहाल कहावत का

'मन चंगा तो कठौती में गंगा।' यह कहावत बडी आला दरजे की है, पर लगता है जैसे पूरी-की-पूरी वात रिवर्स गियर में डालकर कही गयी हो, जरा उलटवांसी किस्म की। सन्तो से सम्बन्धित बात है और उन लोगों को उलटवाँसियों मे वात तक कहने की लत थी। इसलिए ताज्जुब भी क्या?

नही तो सीधी कहावत तो सीधे-सीधे यही होती कि 'जिसकी कठौती मे गंगा उसका मन चगा।'

कहावत का इस तरह जीर्णोद्धार कर देने से इस भारतीय मन बेचारे का 'मॉरेल' भी जरा नीम पर चढ़ जाता है। (थोड़ी देर के लिए इसे करेला मान लीजिए—'बस एक बार···' कर्टसी उमरावजान) वरना तो इस वेचारे पर वो-वो जुल्म ढाये गये हैं कि जब से इसने होश सँभाला संतवचनो के अखाड़े मे कलामुडियाँ ही खाता आ रहा है। बड़ी-बड़ी ज्यादतियाँ हुई हैं इस 'मन' नामक जीव पर। कभी दो घड़ी चैन से न बैठ पाया। जिसे देखो, वही लगाम कसे दो-चार चाबुक जमाने को तैयार! जरा-सी थूथन उठायी नही कि सड से चाबुक पड़ गयी! न ढंग का खाना, न पहनना। जब देखो कोई-न-कोई सन्त-महात्मा विधि-निषेधों की गठरी लिये लादने को तैयार! अब सिर झुकाकर पाय लागी करो और चुपचाप ढोओ। उसके वाद भी, वेगार का बोझ उतारकर किसी तरह पसीना पोंछते हुए अपने झोंपड़े में घुसो तो सामने कबीरदास जी का तैनात निंदक बैठा मिलेगा, आँगन के बीचोबीच कुटी छवाकर! अब उससे निबटो! वह हाथ नचा-नचाकर धिक्कारेगा—लोभी! लंपट! पाखंडी मनुआँ कही का··· दिन-भर खटता है तो क्या हुआ, सारी रात तो चैन से सोता है? छीः-छीः-छीः-छीः! शर्म नहीं आती? रात भी कोई सोने का समय है? जगना चाहिए जगना, और दुनिया-जहान मे जो चैन से सोने वाले हैं उनके हाल पर रोना चाहिए। सोना, कभी नहीं

सोना ··· चैन से बस रात-भर रोना—भारतीय दर्शन की गौरवशाली परम्परा !

तो हुआ सवेरा मुर्गा बोला भजनामृत के माध्यम से कि—हो मम कौन कुटिल खल कामी ! अच्छा सुन, अब भी वक्त है। इंग का या मत, पहन मत, सुख की नींद सो मत ! सिर्फ कोल्हू में जुता रात-दिन रट और उफ मत कर ! गोया मन न हुआ भारत की जनता हो गया। लेकिन आश्चर्य, आज से सैकड़ों साल पहले भारतीय दर्शन के दूर-द्रष्टाओं ने आज की सही स्थिति भाँप ली थी और उसी के अनुसार हमें ढालना, हमारी ट्रेनिंग शुरू कर दी थी। उन दूरदर्शियों को हमारे आने वाले दिनों की पूरी खबर थी। तभी तो सैकड़ों साल पहले से रटनी चालू करवा दी।

सारे-के-सारे बाप-दादे और सन्त पुरुष सदियों से इस मनरूपी जहाज पर अपनी सीखों, नसीहतों की थोक लोडिंग ही तो करते आये हैं। घिस-घिसकर घुट्टी पिलाते रहे। अपनी-अपनी कसौटियों पर कसते-रगड़ते रहे कि—ऐसे उठ, ऐसे सिर गाड़कर बैठ, चारों तरफ के लोभ-मोह से आँखें मींचकर, बस जिन्दगी कट जाएगी – मन शान्त रहेगा तो रूखी-सूखी में ही पुलाव, बुद्धिमानी का स्वाद आयेगा !

लेकिन सब्र की भी एक सीमा होती है। बस, इस मन ने भी एक दिन झल्लाकर एक झटके से लादी उतार फेंकी। क्योंकि उसके सामने युगसत्य उजागर हो गया—अपने एनलार्ज साइज में—और युगसत्य यही था कि यह पुरानी कहावत तो गंगा की उल्टी दिशा में बही जा रही है। असलियत तो आज यह है कि जिसकी कठौती में गंगा उसका मन चंगा। इसीलिए तो लोगों में कठौती भर-भरके गंगाजल ढोने की होड़ मची हुई है। जिसके पास जितनी बड़ी कठौती है, वह उतना गंगाजल ढोके ले जा रहा है और जो जितना ज्यादा ढोकर ले जा रहा है उसका चेहरा उतना ही चंगा दिखाई पड़ रहा है कि नहीं ? बाकी लोग हकबके-से खड़े देख रहे हैं और टी० वी० सीरियलों की भाषा में एक-दूसरे से पूछ रहे हैं कि 'ये क्या हो रहा है भाई ! ये क्या हो रहा है ?'

दूसरा मुँह बनाकर कहता है कि ये गंगाजल ढोया जा रहा है भाई, ये गंगाजल ढोया जा रहा है !

इसपर पहला एकाएक याद आने पर कहता है कि सुनो ! ये लोग तो गंगाजल साफ करने आये थे न…?

तब दूसरा पुनः उसकी जिज्ञासा शान्त करता है कि साफ ही तो कर रहे है। साफ करने और सफाया करने में आजकल ज्यादा फर्क नही महसूस किया जाता। इसलिए सम्भ्रांत शब्दों में ये सब लोग मिलकर देश के गंगा-जल का सफाया किये डाल रहे हैं।

यह बात दिमाग में आते ही वे दोनों कहने-सुनने वाले भी झटपट यहाँ-वहाँ किसी के पास अपने लिए भी माकूल कठौतियों का इन्तजाम करने खिसक जाएँगे, क्योंकि इतना तो मूर्ख-से-मूर्ख व्यक्ति भी जानता है कि अगर कठौतियों का जुगाड़ हो जाए तो गंगाजल भरना चुटकियो का काम है। कुछ खास मशक्कत नही करनी पड़ती, बल्कि यों कहे कि गगा खुद उनकी कठौतियों में समाने के लिए बेताब हो जाती है कि अरे ! आप काहे को तकलीफ करोगे, मैं खुद आ जाती हूँ न घाट-घाट का पानी लेकर ! वैसे तुम्हारे लिए कौन-सा घाट बचा होगा !

समय-समय की बात है। हमारे लिए इससे बड़े गौरव की बात और क्या होगी कि जो गंगा कभी हमें प्रदूषणमुक्त करती थी, हम आज उसे प्रदूषणमुक्त करने पर लगे है ! प्रदूषणमुक्त करने के इस हाइ टेक्नॉलोजी वाले प्रोसेस में हम उसे अपनी-अपनी कठौतियो मे भरकर उसकी 'एग्जीबीशन-कम-सेल' लगायेंगे। पत्र-पत्रिकाओं और प्रायोजित कार्यक्रमों के बीच 'कूल और रिफ्रेशिंग गंगा वाटर' की पचासों ब्रांडों और किस्मों के विज्ञापनो की भरमार होगी। इन विज्ञापनों में चंगी-चंगी तन्वंगियाँ कठौती-भरे गंगाजल में अठखेलियाँ करती, छींटे मारती हुई कहेंगी— अपने शरीर के सौष्ठव और चेहरे की ताजगी के लिए मुझे सिर्फ हरिद्वार ब्राड गगा वाटर पर ही भरोसा है—जी हाँ, मगनभाई छगनभाई का हरिद्वार ब्रांड प्योर गंगा वाटर ! अब आपके लिए हर दुकान पर उपलब्ध है।

या फिर जीनत अमान से सुनिए उनकी सुन्दरता का राज" फ्रेश एण्ड कूल, प्रदूषणमुक्त शुद्ध गंगावाटर—ब्यूटीप्लस—दो सौ ग्राम और पाँच सौ ग्राम और डेढ़ किलो के इकानोमी पैक मे "

ललिता जी कहेंगी—भाई साहब ! प्रदूषणमुक्त प्रयाग ब्रांड गंगावाटर

की खरीदारी मे ही समझदारी है। शुद्ध गारण्टीड, प्रदूषणमुक्त गंगावाटर।

पिस्ते-बादामों में घोटा गया शहनाज हुसेन का गंगावाटर हरबल शैम्पू रेशमी, घनेरे काले बालो के लिए'''।

रूपसियाँ दौड़ पड़ेंगी। इस तरह सभ्यता और संस्कृति की सीढ़ियों से उतरकर गगा उद्योग, व्यापार, फैशन और चकाचौंध के शोर-शराबे मे खो जाएगी। उसका प्रवाह अवरुद्ध हो कांच की सीलबन्द बोतलों में समा जाएगा।

और भारत का भकुआया जनमानस उन रग-बिरंगे लेबलों पर विमुग्ध एक-दूसरे से कहता फिरेगा—देखा, हमने गंगा को रंग-बिरंगी बोतलों में बन्द कर लिया!

पर एक समझदारी वाली बात पर किसी का ध्यान नही जाएगा कि अगर सब-के-सब अपनी-अपनी कठौतियों का गगाजल सचमुच पाक-साफ कर लें तो सारे भारत का गगाजल सचमुच प्रदूषणमुक्त हो जाएगा। ▭

सम्मेलनी समाँ

मैं ठीक समय पर पहुँची थी। दरअसल यही सबसे भयकर भूल की थी। पता नहीं यह एक छोटी-सी चीज मैं कब तक सीख पाऊँगी कि कहीं किसी भी सभा-सोसायटी मे ठीक समय पर कभी नहीं पहुँचना। यह भी कोई बात हुई कि एकदम ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे की तरह जाकर एक कोने मे समा जाओ; लोग आते जाएँ, तुम दुबकते जाओ! कुल मिलाकर गोष्ठी का तीन-चौथाई समय, हर नये आने वाले के साथ ही खिसकने और जगह बनाने में गुजर जाए!

हर्गिज नहीं! पहुँचिए तो ऐसे कि मण्डली जुट चुकी हो, समाँ बँध चुका हो और बीच से हाथ जोड़ते हुए मृदु मुस्कान बिखेरते हुए क्षमा माँगते हुए आपको बड़े संकोच के साथ गुजरना पड रहा हो। आपके लिए जगह बनायी जाएगी'''आइए-आइए कहकर पुकारा जाएगा। मन मे कुढते हुए ही सही, किसी के पूछने पर आपका नाम फुसफुसाया जाएगा। आप सबको जानें-पहचानें या नहीं, आपको तो सब जान गए और यही तो चाहिए। बड़ी आह्लादक स्थिति होती है यह, आजमाकर देखिए बन्धु! मेरी तरह मूर्खता न कीजिए।

मेरा यह सपना तो आज तक सपना ही रह गया। कारण, सब जगह समय मे पहुँची, या फिर नहीं पहुँची।

एक नहीं, हजार ऐसे अनुभव हुए है कि वही-की-वहीं सम्मेलन के अखाड़े की मिट्टी उठाकर कसम खायी है कि आज से कभी समय पर नहीं पहुँचना है, लेकिन मेरी आदत है कि सुधरती नहीं। हालाँकि इस आदत ने मुझे बड़ी-बड़ी शर्मिन्दगी और हादसों का सामना करवाया है।

उस दिन एक सम्मेलन में पहुँची। हमेशा की तरह समय से। पते और चोहद्दी के हिसाब से जगह सही लगी। लेकिन ऊपर-नीचे, दाएँ-बाएँ कोई

ऐसा दीखे ही नही जिससे यह पूछा जा सके कि भाई ! यहाँ हिन्दी नाम की एक भाषा का, सम्मेलन नाम का अखाड़ा होने जा रहा है 'ओरियंट लिटरेरी सोसायटी' के हॉल मे—क्या आप बता सकते हैं यह स्थान कहाँ है ?

जब बेकसी हद से गुजरने लगी तो एक दरबाननुमा फरिश्ता नमूदार हुआ और उसने 'एवमस्तु' की शैली में एक हॉल की तरफ इशारा कर दिया। उस हॉल के बरामदे में दूसरा दरबान था, जिसने खैनी की एक जबरदस्त फंकी मारते हुए सामने के एक दरवाजे की ओर इशारा कर दिया।

अब तक पन्द्रह मिनट हो गए थे। चारों तरफ सन्नाटा था। न बेकार की तू-तू मैं-मैं, न चख-चख। लगा, गलत जगह पर आ गयी हूँ। इन मूर्ख दरबानों को क्या मालूम साहित्य सम्मेलन कैसे होते हैं? क्या रौनक होती है ऐसे अवसरों पर सिर-फुडौवल की! फिर लगा, स्थापित सम्मेलनो के इतिहास में आज एक नया कीर्तिमान स्थापित हुआ चाहता है। सुर्खियों मे खबर आएगी हिन्दी का एक उच्चस्तरीय सम्मेलन बिना जूतम-पंजार के सम्पन्न नही तो नजारा यह होता है कि 'वक्तान के आनन बिन्दुन पै श्रोतान ने जूतम पँजार करी !'

अवश्य ही अन्दर कोई सशक्त विचारोत्तेजक वक्तव्य चल रहा है। लोग चिन्तन के गोदाम की लोडिंग कर रहे होंगे। ऐसे मे देर से पहुँचना··· छि-छि ! या फिर यह भी हो सकता है, अन्दर के श्रोता भागने पर उतारु हो। दरवाजा मजबूती से बन्द है। दरबान ने हौसला बढ़ाया, "खोल लीजिए, खोल लीजिए—कोई बात नही।"

थोड़ा ढाढस बँधा। सहमते-सहमते दरवाजा खोला तो क्षण-भर को अवाक् रह गयी।

हॉल मे घुप अँधेरा। वैसे भी बाहर की रोशनी के बाद अन्दर जाओ तो आँखें जवाब दे जाती है। सो, दे गयी। ठीक है, आँखें तो वैसे भी लड़ती-भिड़ती आती-जाती रहती है, पर कानों को तो अपना काम करना चाहिए। लेकिन कुछ सुनायी भी नही पड़ रहा था। खुदाया ! कहाँ आ गयी ? आँख और कान दोनो ऐसे नाजुक मौके पर जवाब दे गए। हे प्रभो, यह कैसा

कौतुक? अब मायाजाल न फैलाओ। हिन्दी साहित्य का लेखन क्या इतना जोखम-भरा है? ये क्या जगह है दोस्तो, ये कौन-सा दयार है ??…

घबड़ाकर लौटने ही वाली थी कि अँधेरे हॉल के बीचों-बीच से आवाज आयी, "आइए-आइए "

बचपन में भुतहे पीपल के नीचे से गुजरने वाली ऊपरी बलाओं की कहानियाँ सुनी थी। सो मैं डरकर और तेजी से भागने को हुई। लेकिन आवाज और तेज हुई—"आइए, आइए, आप लौटी क्यों जा रही हैं? मैं इधर बैठा हूँ ·।"

और हॉल के बीचों-बीच से संयोजकजी प्रकट हुए। असली-नकली की पहचान हुई। वे संयोजकजी ही थे। प्रकृतिस्थ होकर मैंने कहा, "बाकी लोग कहाँ हैं?"

उन्होंने निहायत संजीदगी और ईमानदारी से कहा, "इस समय तीन बजे का समय है न! मेरा खयाल है सब लोग सो रहे होंगे ··।"

मैंने चिन्तित स्वर में कहा, "फिर सम्मेलन का क्या होगा?"

उन्होंने पूरे विश्वास के साथ कहा, "वह तो समय पर ही होगा—आप आ गयी हैं, शुरू कर दीजिए···।"

मैंने कहा, "लेकिन···लेकिन श्रोता?"

उन्होंने कहा, "श्रोताओं का क्या है, अभी जुटाए देता हूँ।" उन्होंने दबंग आवाज में दरबान को बुलाया और कहा कि वह जरा लपककर पुस्तकालय में पुस्तकाध्यक्ष, लिपिक और पुस्तकालय के चपरासी को बुला लाए।

दरबान ने अटककर पूछा, "क्या कहूँगा?"

"कहना—फौरन आएँ, श्रोता बनना है।"

दरबान लपक गया··

पुस्तकालय बन्द कर ताला-कुंजी लगाने में थोड़ा समय तो लगा ही। इतने में मेरे-जैसे दो-तीन वक्ता और आ गए। इस प्रकार वक्ताओं का कोरम तो सत्तर प्रतिशत पूरा हो चुका था, लेकिन श्रोता संयोजकजी सहित कुल चार ही थे। इतने में सम्मेलन के मन्त्री, उपमन्त्री, सचालक, महासचिव, उपमहासचिव और उपमहामन्त्री आते दिखायी दिए। संयोजकजी प्रसन्न

होकर बुदबुदाए, "जानता था, सबको ऐसा ही एक-एक ओहदा दूँगा तो कैसे न आएँगे सब !"

इतने पर भी कुछ वक्ताओं ने आपत्ति की कि पहले श्रोता तो जुटने दीजिए। इसपर सयोजकजी को ताव आ गया और बोले, "आप चार वक्ता हैं और बारह श्रोता ! फी वक्ता तीन श्रोता तो जुट गए। अब क्या महफिल जुटाएँगे ? अरे, हमें चिन्तन करना है, कव्वाली नही गानी। किसी साहित्य सम्मेलन में कोई माई का लाल इससे ज्यादा श्रोता जुटा दे तो मैं अपना नाम बदल दूँ !"

नाम किसी को नही बदलवाना था।

बात भी ठीक थी। मान ली गयी। वक्ताओं के पर्चे अच्छे थे। वे पढने लगे। थोडी देर मे ही पूरे हॉल में शान्ति छा गयी। सुई गिरने तक की आवाज नही। कोई हूटिंग-शूटिंग नही। हूटिंग होती कहाँ से ? पूरा हॉल खाली था और सामने की सीट पर विराजमान बारहों श्रोता एक-दूसरे के कन्धों पर सिर रखे सो रहे थे; अकेले संयोजकजी जाग रहे थे, जैसे पंचवटी मे रखवाली करते हुए लक्ष्मण। वातावरण काफी पवित्र किस्म का हो गया। सिर्फ उसे बीच-बीच में संयोजकजी की जम्हाई अथवा इक्के-दुक्के श्रोताओं के खर्राटे ही भग कर रहे थे, जो कानो को सुखद लग रहा था। साहित्य के जागरूक पहरुओं का इस प्रकार निश्चिन्त होकर सोना बड़ा भला लग रहा था।

मैंने सलाह दी कि श्रोताओं को चाय पिलवा दीजिए—ताली बजाने के लिए जग जाएँगे और टिके रहेंगे। इसलिए श्रोताओं के लिए चाय मँगवायी गयी, वक्ताओं के लिए एक-एक ग्लास पानी। पान, बीडी, सिगरेट वगैरह भी मुहैया किये गए। मुझे बड़ी कोफ्त हुई कि मैने समय रहते सिगरेट पीना क्यों नही शुरु किया।

इतने मे शोर हुआ कि 'अध्यक्षजी आ गए'-'अध्यक्षजी आ गए', और बारहों श्रोताओं ने ताली बजाकर उनका स्वागत किया। अध्यक्षजी ने हाथ जोड़कर उनका शुक्रिया अदा किया और सयोजकजी से कान खोदने के लिए लकड़ी माँगी। हाल मे सक्रियता बढी।

महामन्त्रीजी बाथरूम गए और उपसचिव ने रजिस्टर लिया। मौका

पाकर श्रोताओं के बीच बैठे पुस्तकाध्यक्ष ने चपरासी को घर के लिए सब्जी लाने भेज दिया। इन उत्साहवर्धक क्रियाओं के बीच संचालकजी बीच-बीच में मंच से बोलते रहे, जिसका आशय था कि हम सब चिन्तित थे कि एक महत्त्वपूर्ण दौर से गुजर रहे हैं, दूसरा एहसास हम सबको एक साथ हो रहा है।

जगकर चाय पिये हुए श्रोताओं ने इस पर ताली बजायी और हॉल से बाहर जाते-जाते एक-दूसरे से कहा, "सम्मेलन सचमुच सफल रहा…खूब सोए… वरना अपने घर में बाहर-भीतर की चिल्लाहटों में चैन से सोना कहाँ हो पाता है !"

अथ कलियुग गुरुदेव रासो

प्रस्तुत पाठ में लेखिका ने 'काला अक्षर भैंस बराबर' युग से चली आ रही और सीधे रसातल की ओर जा रही गुरु-शिष्य-परम्परा का बड़ा ही मार्मिक और सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है।

लेखिका का कहना है कि लद गए जमाने में गुरु और गोविन्द अक्सर साथ-साथ गली-चौराहे पर नजर आ जाया करते थे। यहाँ तक कि लाठी हाथ में लेकर मुस्तैदी से कवायद करते कबीर को अपने व्यस्त क्षणों में यह सोचने पर विवश होना पड़ता था कि पहले गुरु की 'राजी-खुसी' पूछी जाए या पहले गोविन्द की ? (महत्त्वपूर्ण निर्णय अक्सर जल्दबाजी में ही लिये जाते हैं और बेचारे फुर्सत वालों के पास 'निर्णायक क्षण' यदा-कदा ही फटकते हैं।) बहरहाल यह एक प्रामाणिक तथ्य है कि कबीर का निर्णय बहुधा गुरु-पक्ष की ओर ही जाता था और गोविन्द ऐसे मौके पर लकड़ियाँ बीनने के लिए भेज दिये जाते थे। कहने का तात्पर्य यह कि गोविन्द को खामा खटना पड़ता था और चैन की बंशी गोविन्द नहीं, गुरुदेव बजाते थे।

लेकिन हा देव ! उसी गुरु की स्थिति न हुई, मुख्यमन्त्रियों की कुर्सी हो गयी। "आवत जात न जानियत···।" बेचारे न घर का पानी पी पाते हैं, न घाट का। कोई पूछनहार नहीं, टुटपूँजिए लेखकों तक के मिजाज बढ़ गए हैं। डाकुओं और दस्युराजों के तेवर तराश रहे हैं भाई लोग। 'चम्बल देव रासो' लिख रहे हैं, भिण्ड की सुन्दरियों का नखशिख-वर्णन और लक्षण-ग्रंथ रचे जा रहे हैं—अब गुरु को कौन पूछता है ! फिल्म वालों के बॉक्स पर भी आज तक कोई गुरु न हिट हो पाया, न फिट। अरे जब कला-फिल्म वालों ने न पूछा, तो करोड़पतिया स्टण्ट फिल्मों में भला उनकी क्या बिसात !

इसीलिए लेखिका कहती है कि जिसका कोई पूछनहार नहीं, उसकी मैं हूँ। मैं 'गुरु' को साहित्य की सुर्खियों में लाऊँगी, 'गुरुत्वालोक' को दिग्-

दिगन्त तक पहुँचाऊँगी। उसकी कक्षाओं की तमाम ग्रह-स्थितियों और हादसों पर प्रकाश डालूँगी। मैं, केवल मैं 'गुरुत्वाकर्षण : परवर्ती स्वरूप और दुर्दशा' शीर्षक से शोधग्रन्थ लिखकर ससम्मान पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त करूँगी।

इस लेखिका की शोध बतलाती है कि गए जमाने में तो गुरु एक ही प्रकार के होते थे, लेकिन सभ्यता के विकास के साथ गुरु शब्द भी विकास को प्राप्त हुआ। गुरु एक से अनेक होते गए।

और भी, कि गए जमाने में 'गुरु' शब्द से सिर्फ अर्थ निकलता था, अब उससे ध्वनियाँ भी निकलती हैं। अर्थात् यह शब्द पहले से कहीं अधिक ध्वन्यात्मक हो गया है। उदाहरण के लिए, 'आह गुरु' कहने से जो पिटी-पिटायी कलपती-सी धुन निकलती हैं, वह 'वाह गुरु' या 'हाँ गुरु' से सर्वथा भिन्न है। 'आह गुरु' की श्रेणी में आने वाले गुरु पिटी-पिटी-सी शक्ल लिये बगलें झाँकते, सहमते-से अपनी ग्रह-कक्षाओं में घुसते हैं, जबकि 'वाह गुरु' 'मस्ती का आलम साथ लिये और धूल उड़ाते' हुए उन्हीं कक्षाओं में इस तरह घुसते हैं जैसे 'पृथ्वीराज रासो' में मस्त गजराज की तरह पृथ्वीराज चौहान। कक्ष के बाहर आते समय भी पहले वाले गुरु की हुलिया कुछ इस प्रकार का बयान देती है, जैसे सिली-मिडऑन पर पहली ही गेंद पर आउट होकर पेवेलियन से बाहर आ गए हों। सो कुल मिलाकर गुरु अनन्त, गुरु-कथा अनन्ता।

कहने का अर्थ यह कि समझदार को इशारा काफी। जाइए, शीघ्रता कीजिए। सत्रारम्भ का शुभारम्भ हो चुका है। अपने मनपसन्द विषय चुनकर पी-एच० डी० से डी० लिट्० तक मन-भाई डिग्री प्राप्त कीजिए, गुरु-शिष्य-परम्परा पर शोध करके।

आगे लेखिका कहती है कि यों तो इस 'भारतखण्ड' नामक भू-भाग पर जहाँ देखिए वहीं गुरुओं-शिष्यों की फसल लहलहा रही है, किन्तु प्रमुखतः ये दोनों ही प्रकार के गुरु, विद्यालय नामक स्थान पर बहुतायत से पाए जाते हैं। विद्यालय का अर्थ लिख लीजिए। विद्या + लय = विद्यालय, अर्थात् वह स्थान जहाँ पर विद्या का लय हो जाता है, अर्थात् किया जाता हो। आजकल विद्यालय के बहुत भ्रामक अर्थ प्रचलित हैं। आप सिर्फ इसी एक

प्रामाणिक अर्थ पर जाइए। इसी से मिलता-जुलता एक और शब्द भी है—विद्यार्थी। इस शब्द को लेकर भी अटकल मत लगाइए। इसका सीधा अर्थ है विद्या+अर्थी अर्थात् विद्या की अर्थी उठाने वाला है, जो प्रकारान्तर से कहें तो विद्या का अर्थी उठाने में सहायक है। आजकल विश्वविद्यालय शब्द भी बहुत प्रचलित है। यह शब्द ज्यादा विस्तृत है, क्योंकि यहाँ पर विश्व-भर की विद्याएँ और कलाएँ लय को प्राप्त होती हैं। इस परिप्रेक्ष्य में यदि आप गुरु शब्द का विश्लेषण करेंगे तो इसका अर्थ होगा गुरु अर्थात् 'गुर' जानने वाला। प्रश्न—कौन-सा गुर जानने वाला? उत्तर—विद्या को लय करने का गुर जानने वाला।

लेकिन यहीं पर गुरु मेज पर डस्टर पटकते-पटकते चीख पड़ता है—"हर्गिज नहीं, मैं शिक्षक हूँ, अनादि काल से शिक्षा देता आया हूँ। लकड़ियाँ वगैरह तो कभी-कभी कटवा लिया करता था, कृष्ण-सुदामा जैसे शिष्यों से, बाकी समय में तो विद्या-प्राप्ति का ही गुर सिखाता था।" लेकिन वह स्वयं चिन्तनग्रस्त होकर सोचता है कि आखिर तब वह इस विद्या+लय नामक स्थान में क्यों आया? क्यों आए गुरु, तुम्हीं बताओ! नुक्कड़ पर ताम्बूल-भण्डार या चौराहे पर चने-मूंगफली की रेहड़ी भी तो लगा सकते थे। आमदनी थोड़ी ज्यादा ही होती और क्लास में ओम्शान्ति की दुहाई मचा-मचाकर गला फाड़-फाड़कर जितना चीखते हो, उससे कम में काबुली चने और मूंगफली की हाँक लग जाती। आम-के-आम, गुठलियों के दाम भी वसूल हो जाते। लेकिन विद्यालय में आकर तो तुम कहीं के न रहे।

लेखिका कहती है कि गुरु सारे आरोपों को झुठलाता हुआ कहता है कि वह अपने पूरे होशोहवास में विद्यालय में आया और उसका मकसद सिर्फ शिक्षा देना ही था। साथ ही गुरु को विश्वास है कि एक-न-एक दिन सतयुग आयेगा—जब दो-एक बीघा जमीन में लाखों क्विण्टल अनाज यानी गेहूँ, चावल, ज्वार, बाजरा और मकई उगेगी। घर-भर, देश-भर खाकर अघा जाएगा। सो सतयुग जब आएगा तब उसे विद्यालयों में भी आना ही चाहिए। देख लीजिएगा एकाध राउण्ड विद्यालयों में भी मारेगा जरूर। बस, तभी उद्बोधन के उन चरम क्षणों में एकाध चैप्टर पढ़ा दिया जाएगा।

इतना ही नहीं, इन चैप्टरों को पढ़ाने जब वह क्लासों में आया करेगा

तो आश्चर्य—न तो उसके ऊपर चाक के टुकडे-रूपी ओलों की वर्षा होगी और न चुइंगम के गुब्बारे के वन्दनवार छात्र-छात्रादि के होठों पर सजे होंगे। और जब गुरु ब्लैक-बोर्ड पर कुछ लिखने लगेगा तो पीछे से हिस्स-हिस्स फिस्स-फिस्स का अनहद नाद भी न होगा और चनाचूर तथा मूंगफली की चुरमुराहट भी नही। तब वह स्वतन्त्र भारत के शिक्षक की तरह गर्व से सिर उठाये, सीना ताने, बगैर हूट हुए ही क्लासों से बाहर आया करेगा। यह सब और तमाम अनहोनी बातें तभी होंगी गुरु, जब सतयुग आएगा। लेकिन कल्पना करो, सतयुग न आया तब?

तब? तब फिलहाल उन्ही शब्दार्थो से काम चलाइए जो इस लेख के पूर्वार्द्ध में बताए गए हैं। साथ ही तब तक अच्छा हो अगर हफ्ते-भर का साप्ताहिक भविष्य देखकर कक्षाओ मे जाया करें। साप्ताहिक भविष्य आपकी नियति नही बदल सकता, लेकिन ग्रहो की विनाशकता को थोड़ा कम अवश्य कर सकता है। जैसे सोमवार को चन्द्रमा का दिन होने से कम-जोर चन्द्रयुति वाले गुरुओं पर प्रायः सफेद वस्तुएँ जैसे रेवड़ी, शक्कर फुटाने आदि फेंके जाते है। मंगल को भुने चने और शुक्रवार को छिली मूंगफलियों का योग रहता है (जो छात्रों को बहुत पसन्द है)। शिक्षकों को चाहिए कि अपने पर नियन्त्रण रखें (अर्थात् उठाने-बीनने की जल्दबाजी न करें)। शनिवार को अक्सर कलहयोग अर्थात् जबरदस्त हूटिंग, शोर और हगामा का योग रहता है। गुरु को चाहिए कि छात्रो के साथ सहयोग करें (क्योकि इसके सिवा कोई चारा नहीं), सिर में सरसों का तेल चुपड़कर और काले रंग का कोई कपडा, जैसे कमीज या बनियाइन पहनकर जाएँ। इससे शनि का प्रभाव मन्दा रहता है। बाकी दोनों दिन अर्थात् बुध और वृहस्पति को राजयोग है। इस दिन उपस्थिति बहुत ही न्यून रहती है क्योकि 'मिनर्वा' और 'प्लाजा' में पिक्चरें बदलती है। पहला-पहला दिन होता है, अतः छात्रो का पूरा दिन अथक परिश्रम में बीतता है। जो छात्र कक्षा मे उपस्थित रहते है, वे भी ब्लैक मे टिकट न मिल पाने के कारण खिन्न रहते हैं, अर्थात् उनका प्रभाव न्यून रहता है, अतः गुरु जो मनचाहे हांक सकता है।

वैसे सतयुग आ जाए तो ठीक रहे। लेकिन नहीं आये तब भी शिक्षकों से प्रार्थना है कि इस महान् परम्परा को बनाए रखें। स्वरूप में थोड़ा अन्तर

आ सकता है, जैसे कभी गाड़ी नाव पर रहती है, कभी नाव गाड़ी पर। तो परम्परा का निर्वाह करना ही है। इस महान् परम्परा के निर्वाह के लिए गए नालों में शिष्य लोग घाट की सीढ़ियों पर लेट जाया करते थे, जिससे सीढ़ी चढ़ते गुरु का पैर पकड़कर उन्हें गुरुत्व स्वीकार करने के लिए वाध्य कर सकें। यह काम कोई मुश्किल नहीं। आज भी किया जा सकता है। बस, शिष्य की जगह गुरु लेट जाएँ और वोटिंग करके लौटते हुए शिष्यों में से किसी एक का पैर पकड़कर खीच लें और तरह-तरह से समझा-बुझाकर उसे शिक्षा प्राप्त करने पर मजबूर करें। कहें कि वत्स ! रहम खाओ ऐसी डिग्रियों और पी-एच० डी० पर। तुम्हें सौगन्ध है गुरु-शिष्य की महान् परम्परा की, कुछ कहने का एक बार तो मौका दो ! मुझे समझने की कोशिश करो वत्स ! बस, एक पाठ पढ़ लो। मुझे गलत न समझो मैं जानता हूँ, आज गुरु और शिष्य में कोई अन्तर नहीं, अर्थात् गुरु ही शिष्य है—शिष्य ही गुरु है " भारतीय संस्कृति की, दूध-घी की नदियों की, सोने की चिड़ियों की और अन्त में पापी पेट की दुहाई है, गुरु-शिष्य-परम्परा कायम रखो। बेरोजगारी के भूखे पेट पर और लात मत मारो और शिष्यत्व स्वीकार कर लो !

चोटी पर न पहुँचे हुए लोग

मुझ पर आजकल जबरदस्त हीनता-बोझ सवार है। कारण, मैं पहाड़ पर कभी नहीं गयी। इस बात को छुपाना चाहती थी। पर जानती हूँ कि कि अब छुप नहीं पायेगी। लोगों को बहुत जल्दी ही इस बात का पता लग जायेगा कि हिन्दी की अमुक लेखिका अभी तक पहाड़ पर नहीं गयी। वे एक-दूसरे से फुसफुसाते हुए कहेंगे कि तभी तो मैं सोचती थी/सोचता था कि आखिर क्यों बेचारी का लेखन अपेक्षित ऊँचाई तक नहीं पहुँच पाया। इन्होंने पहाड़ों के घुमावदार-पेंचदार रास्तों पर चढ़ने की तकलीफ सही ही नहीं! ढलानों पर फिसलने का खतरा उठाया ही नहीं! कला के जोखिम में रूबरू हुई ही नहीं! और एक-दूसरे से सिर हिला-हिलाकर अफसोस जाहिर करेंगे"'वही शॉर्ट कट की संस्कृति" तब फिर रचनात्मकता में पहाड़ों-सा वजन और क्षेत्रफल समाता कहाँ से?

लेकिन आखिर बात क्या हुई? गयी क्यों नहीं पहाड़ पर?

बस यहीं पर मेरी शर्मिंदगी डूब मरने के लिए चुल्लू-भर पानी तलाशने लगती है। और लोग हैं कि पीछा छोड़ते ही नहीं। जब-तब आगे-पीछे घेर-कर बहाने की कोशिश करते हैं। असलियत उगलवाने कई-कई सूत्रीय कार्य-क्रम लागू करने की कोशिश करते हैं—अच्छा, कुछ तो बताइए। क्यों नहीं गयी पहाड़ पर?"'अब अगर सच-सच कहूँ तो उन्हें विश्वास ही नहीं आयेगा। फेयरफैक्स की मारी बुद्धिजीवी सोच को वैसे भी आजकल चारों तरफ रहस्य और गुप्तचरी का ही अंदेशा लगा रहता है, काजियों की बन आयी है सो अलग, पूरे शहर में!

अंदेशों के साथ-साथ आरोप भी—जैसे मैंने पहाड़ पर न जाकर साहित्य के साथ कोई जबरदस्त विश्वासघात किया हो। कला के जोखिम का सौ-दो सौ किलोग्राम भारोत्तोलन किये बिना साहित्य के अखाड़े में घुसने

के लिए सेंध मारी हो। इस तरह उनके दिलों को जबरदस्त ठेस पहुँचायी हो, या फिर, मैं किसी को अपने बारे में कुछ न बताने की और छुपी रुस्तम बने रहने की अस्वस्थ परम्परा की शुरुआत कर रही हूँ। इसी तरह तो साहित्य में अस्वस्थ और दूषित परम्पराएँ जन्म लेती हैं। साहित्यिक प्रदूषण फैलाने की काफी कुछ जिम्मेदारी इस तरह मेरे ऊपर आ जाती है। आखिर मैं क्यों नहीं समझती कि यह मेरे लिए कई दृष्टिकोणों से घातक सिद्ध हो सकता है? और इतनी सारी समस्याओं का कारण?—महज मेरा पहाड़ पर न जाना। चली गयी होती तो वर्तमान सुधर गया होता, भविष्य सँवर गया होता।

इसी सन्दर्भ में एक शुभचिंतक ने पूछा—"फिर आप चोटी पर कैसे पहुँचेंगी?"

मैंने पूछा, "पहाड़ की चोटी पर?"

वे बोले, "जी नहीं, मेरा मतलब है कथाकारिता की चोटी पर—यानी चोटी के कथाकारों में कैसे शामिल होंगी?"

मैंने कहा, "चोटी पर वैसे भी जगह की बड़ी किल्लत रहती है। एक-आध लोग ही बमुश्किल खड़े हो पाते हैं और मेरे साथ तो दो-तीन बच्चे और उनके पिता भी रहते हैं न।"

"आप भी खूब हैं, चोटी पर बच्चों और उनके पिताओं को लेकर थोड़े ही न जाया जाता है। कला और साहित्य तो एक साधना है।"

"लेकिन मैं भी क्या करूँ—इन्हें मैं कोई शौक के मारे थोड़े ही पाले हुए हूँ। ये मेरी लाचारियाँ हैं। मेरी गुजर-बसर करते हैं न! अब साहित्य तो मुझे एक वक्त का नाश्ता तक नहीं दे सकता, स्वाभिमान के साथ।"

"अरे, आप तो मजाक करती हैं।"

"मजाक समझिए, तब भी चोटी पर महान् साहित्यकार होता है, उसकी कमर पकड़कर वरिष्ठ लटके हुए होते हैं। वरिष्ठों के घुटने से समकालीन और समकालीनों के चारों तरफ युवाओं का जमघट रहता है। इन युवाओं का भी कुरता पकड़े नवोदितों के जत्थे-के-जत्थे—ऐसा ही होता है। साहित्य का पहाड़ और इस पहाड़ को खोदिए तो एक चुहिया आपको खिराती हुई निकल जायेगी!"

वे मुस्कराये, "आपको शुद्ध भ्रम है। दरअसल चोटी पर पहुँच पाने का तो लुत्फ ही कुछ और होता है।"

"क्या खाक लुत्फ होता है! हर समय तो डर बना रहता है कि कहीं कोई पीछे से अड़गा लगाकर नीचे खाई-खदक में न गिरा दे। वैसे भी पहाड़ों पर बरफ और फिसलन बहुत होती है।"

उन्होंने मुस्कराकर कहा, "छोड़िए भी, अब इस उम्र में भी आपको फिसलने का डर बना हुआ है?"

मुझे तैश आ गया, "वाह! क्यों नहीं होगा? शायद आपको मालूम नहीं, फिसलने का उम्र से कोई खास नजदीकी रिश्ता नहीं होता। फिसलते समय कोई खाई-खंदक कहाँ देखता है? न उम्र की पैमाइश ही करता है फीता लेकर; और फिर जहाँ बला की फिसलन और ढलान हो, कोई कहाँ तक पैर सँभालेगा?"

"यह सब छोड़िए, आप मुझे बरगलाने की कोशिश कर रही है। सही-सही वजह बताइए।"

"सही-सही वजह पूछिए तो पहाड़ों पर अब शरीफो के जाने लायक जगह बची ही कहाँ है? वहाँ या तो हनीमूनी जोड़े जाते हैं, या फिर ऊँट!"

"ऊँट?" उन्होंने हैरानी से पूछा।

"जी हाँ, आपको नहीं मालूम? और इन ऊँटों के बारे में दो बातें मशहूर हैं। एक तो, ये जब तक पहाड़ पर नहीं चढ़े होते, बहुत बलबलाते हैं; और दूसरी, जब पहाड़ पर चढ़ चुकते है, तो किस करवट बैठेंगे पता करना बहुत मुश्किल होता है। वैसे ऊँटों की यह पॉलिसी इधर सरकारी, गैर-सरकारी, साहित्यिक, गैर-साहित्यिक—हर क्षेत्र में बहुत पॉपुलर हो रही है—सो यह 'शो' तो हम घर बैठे देख-देखकर छके जा रहे हैं···पहाड़ जाने की जहमत क्यों उठायें? और सबसे बढ़कर बात यह कि साल-भर पे गर्मियाँ आती है तो छत पर पानी छिड़ककर आम-खरबूजे खाने के लिए या कि दो खच्चरों के बोझ बराबर स्वेटर-कंबल डाटकर पहाड़ों पर जाने के लिए?···

"और हाँ, सुनती हूँ, पहाड़ों पर हवा के लिए भी लाइन लगानी पड़ती है। वो क्या तो, पतली-पतली-सी होती है। साँस लेने में भी मुश्किल! और यहाँ अभी एक हवा-भर ही तो, ठंडी-गरम चाहे जैसी हो, बिना लाइन

लगाये मिल जाती है। तो जब तक मिलती है तब तब तो सांस ले ली जाये। आगे-की-आगे देखी जायेगी।

"और वैसे भी सर्दियों में मुझे नजला-जुकाम, मुन्ने को टांसिल और उनके पिता जी को छींके आने लगती हैं। तो इससे तो अच्छा है कि गर्मियों में पहाड़ पर जाने की जिद छोड़कर मैं चाइना-सिल्क या फ्रेंच-शिफॉन की साड़ी न खरीद लूं?"

"सुनिए ··" उन्होंने बेसब्री से मेरे धारा-प्रवाह भाषण को रोकते हुए पूछा—"पहाड़ों से सम्बन्धित ये सारी बेसिर-पैर की जानकारियाँ आपको किसने दी?"

"क्यों?" मैंने हैरानी से कहा, "मेरे पति ने और किसने?"

"ओह! · अच्छा-अच्छा, तो आज्ञा दीजिए, अब मैं चलता हूँ।" और फौरन बड़े उत्साह में उठ लिये।

"अरे! कहाँ एकाएक?"

"कुछ नहीं, योंही", उन्होंने झिझकते, शरमाते हुए कहा, "दरअसल मेरी पत्नी भी कई साल से पहाड़ों पर चलने के लिए जिद मचाये हुए है।"

▭

चौरस्ते पर संवाद

विपरीत दिशाओं से आते दो राहगीर आमने-सामने मिल गये और इस प्रकार संवाद हुए :

पहला : बहुत सुस्त दिखाई देते हो भाई, कैसे निकले ?

दूसरा : रोजी-रोटी की तलाश में निकला हूँ, इधर मिलेगी क्या ?

पहला : नहीं, इधर तो मेरा गाँव है और वहाँ जबरदस्त सूखा पड़ा है, इसीलिए तो मैं भी निकला हूँ। उधर सामने की तरफ मिलेगी क्या ?

(इसपर दूसरा राहगीर सुस्ती भूल ठठाकर हँस पड़ा।)

दूसरा : खूब ! अरे, इधर तो मेरा गाँव है और वहाँ जबरदस्त बाढ़ आयी हुई है।

पहला : ओह ! तब तो ढोर-डगर सब बह गये होंगे, बड़ी बाही-तबाही मची होगी ?

दूसरा : सो तो है, पर हमने हेलिकॉप्टर भी तो देखे, जिन्दगी मे पहली बार।

पहला : अच्छा · अच्छा, खाना गिराने आये होंगे, हमने अखबारो मे पढ़ा था ·

दूसरा : खाना तो सिर्फ एक बार ही गिराया गया था, लेकिन मुआयना कई बार किया गया न घूम-घूमकर, उसमें बड़ा मजा आया·· हर घटे-दो-घटे पर घुरघुराते हेलिकॉप्टर देखकर बड़ा मजा आता था, जैसे हेलिकॉप्टरो का कोई शिखर सम्मेलन होने जा रहा हो · वाह-वाह ! क्या नजारा था !

पहला : (चिढ़कर) हुँः, यह कौन-सी बड़ी बात है ? सम्मेलन तो हमारे गाँव में भी हुए थे—सूखाग्रस्त क्षेत्रों के नेताओं का गुट-निरपेक्ष सम्मेलन, वाह··· क्या गहमा-गहमी थी··· क्या नजारा · क्या समाँ··· क्या फिजा···!

दूसरा : ठहरो, क्या कहा तुमने ? समाँ, नजारा और फिजा · इन

शब्दों पर एक बढ़िया ट्यूनिंग सूझ रही है, गाऊँ क्या ?

पहला . गाओ भाई, गाओ ! तुम्हें राष्ट्रीय गौरव गाने से रोकने वाला मैं कौन होता हूँ भला ?

दूसरा · (गाते हुए) या ऽ ऽ द आ गयी वो सम्मेलनी फिजाएँ···

यारो थाम लेना, थाम लेना—

यारो थाम लेना, थाम लेना—

मेरी बा ऽ ऽ हें।

(गाता-गाता दूसरा राहगीर पहले के ऊपर गिरने लगता है।)

पहला · (सहानुभूति से) क्या कमजोरी बहुत ज्यादा हो गयी है ?

दूसरा : (जले-भुने स्वर में) लो, यह भी कोई पूछने की बात है ? जैसे तुम्हें मालूम नहीं कि मेरे गाँव में बाढ आयी है। हफ्ते-भर से कुछ खाया नहीं !

पहला : तुम्हें हेलिकॉप्टर वाला खाना उचककर कैच कर लेना था।

दूसरा : तुमसे कहा न, सिर्फ एक बार·· उससे पेट भरता क्या ?

पहला : (कौतूहल से) तो क्या बाढ़ आने से पहले तुमने कभी भरपेट खाना खाया था ?

दूसरा : (हड़ककर) जैसे तुम अपने गाँव में सूखा पड़ने से पहले पेट-भर खाते थे ?

पहला : बिगड़ने क्यों हो भाई ? अगर मैंने कहा होता कि मेरे गाँव के सभी लोग भरपेट खाते है, तब तुम बिगड़ते तो कोई बात थी। मैं तो खुद ही भूखा हूँ। तुमसे पूछ-पूछकर अपने देश, अपने राष्ट्र को ज्यादा-से-ज्यादा समझने की कोशिश कर रहा हूँ। अब ठीक से जान गया कि जहाँ तक भूखे रहने का सवाल है, हम सब एक हैं।

दूसरा : वहाँ राहत-कार्य पहुँचाने के लिए सड़कें जो होती हैं और मन्त्री जी के भी पाँव-प्यादे 'दर्शन' हो जाते हैं।

पहला : हाँ, सो तो है।

दूसरा : सुना, इस बार मन्त्री जी ने खुद खाना परोसा?

पहला : हाँ ''परोसा तो।

दूसरा : धन्य-धन्य, ऊधो बिदुर घर जायी'''ऊधो बिदुर घर जायी''' अच्छा क्या परोसा?

पहला : पूछो मत! परोसते तो बहुत-कुछ, लेकिन बेचारे कुल डेढ़ दिन लेट पहुँचे। इधर राहत वाली खिचड़ी और लपसी बुसा गयी।

दूसरा : तुम्हारे गाँव वालों का मुकद्दर खराब था, इतनी देर से खाना भी मिला, तो बासी।

पहला : लेकिन मन्त्री जी का 'दर्शन' ताजा मिल गया; सो सब तृप्त हो गये।

दूसरा : चलो, अंत भला तो सब भला।

पहला : नहीं, अंत तो गड़बड़ा गया'' बासी खिचड़ी-लपसी खाकर बहुत सारे लोग मरणासन्न हो गये न! एक समस्या और खडी हुई।

दूसरा : कैसी समस्या?

पहला : समस्या यह कि लोगों को यही नही समझ मे आ रहा था कि बासी खिचडी खाकर मरने वालों की संख्या को सूखे से मारने वालों की संख्या में से घटाया जाये या जोड़ा जाये? कहो, थी ना विकट समस्या?

दूसरा : अबे, तुम लोगो के घटाने-बढ़ाने से मरने वाले जिन्दा हो जायेंगे क्या?

पहला : अहमक हो तुम! ये उसूल वाली बाते है और उसूल कहता है कि आँकड़े हमेशा सही और सूत्र हमेशा विश्वस्त होने चाहिएँ।

दूसरा : जैसे मैं जानता नही'''लेकिन उसके लिए बस कमीशन बिठा देना था।

पहला . सो तो बिठा भी दिया गया है, साल-दो-साल में सही आँकड़े सामने आयेंगे ही आयेंगे।

दूसरा : अच्छा, यह तो बताओ, रोटी-रोजी कमाने चलना है या यहीं

शब्दो पर एक बढ़िया ट्यूनिंग सूझ रही है, गाऊँ क्या ?

पहला . गाओ भाई, गाओ ! तुम्हें राष्ट्रीय गौरव गाने से रोकने वाला मैं कौन होता हूँ भला ?

दूसरा . (गाते हुए) या ऽ ऽ द आ गयी वो सम्मेलनी फ़िजाएँ...

यारो थाम लेना, थाम लेना—

यारो थाम लेना, थाम लेना—

मेरी बा ऽ ऽ हे।

(गाता-गाता दूसरा राहगीर पहले के ऊपर गिरने लगता है।)

पहला : (सहानुभूति से) क्या कमजोरी बहुत ज्यादा हो गयी है ?

दूसरा : (जले-भुने स्वर मे) लो, यह भी कोई पूछने की बात है ? जैसे तुम्हे मालूम नहीं कि मेरे गाँव मे बाढ़ आयी है। हफ्ते-भर से कुछ खाया नहीं !

पहला : तुम्हे हेलिकॉप्टर वाला खाना उचककर कँच कर लेना था।

दूसरा : तुमसे कहा न, सिर्फ एक बार...उससे पेट भरता क्या ?

पहला : (कौतूहल मे) तो क्या बाढ़ आने से पहले तुमने कभी भरपेट खाना खाया था ?

दूसरा : (हड़ककर) जैसे तुम अपने गाँव से सूखा पड़ने से पहले पेट-भर खाते थे ?

पहला : बिगडते क्यो हो भाई ? अगर मैंने कहा होता कि मेरे गाँव के सभी लोग भरपेट खाते है, तब तुम बिगड़ते तो कोई बात थी। मैं तो खुद ही भूखा हूँ। तुमसे पूछ-पूछकर अपने देश, अपने राष्ट्र को ज्यादा-से-ज्यादा समझने की कोशिश कर रहा हूँ। अब ठीक से जान गया कि जहाँ तक भूखे रहने का सवाल है, हम सब एक है।

(इसपर दोनो खुश होकर, थोड़ी देर तक, 'आवाज दो हम एक हैं—हम एक हैं' गाते रहे...गाते-गाते जब हलक सूखने लगे, तो वार्तालाप फिर शुरू हुआ।)

दूसरा . लेकिन एक बात है, रहने-बसने के लिए सूखाग्रस्त इलाके, बाढ़ग्रस्त इलाको से ज्यादा बेहतर होते हैं।

पहला : कैसे ?

दूसरा : वहाँ राहत-कार्य पहुँचाने के लिए सड़कें जो होती हैं और मन्त्री जी के भी पाँव-प्यादे 'दर्शन' हो जाते हैं।

पहला : हाँ, सो तो है।

दूसरा : सुना, इस बार मन्त्री जी ने खुद खाना परोसा ?

पहला : हाँ…परोसा तो।

दूसरा : धन्य-धन्य, ऊधो बिदुर घर जायी…ऊधो बिदुर घर जायी… अच्छा क्या परोसा ?

पहला : पूछो मत ! परोसते तो बहुत-कुछ, लेकिन बेचारे कुल डेढ़ दिन लेट पहुँचे। इधर राहत वाली खिचड़ी और लपसी बुसा गयी।

दूसरा : तुम्हारे गाँव वालों का मुकद्दर खराब था, इतनी देर से खाना भी मिला, तो बासी।

पहला : लेकिन मन्त्री जी का 'दर्शन' ताजा मिल गया, सो सब तृप्त हो गये।

दूसरा : चलो, अंत भला तो सब भला।

पहला : नही, अंत तो गड़बड़ा गया… बासी खिचडी-लपसी खाकर बहुत सारे लोग मरणासन्न हो गये न ! एक समस्या और खड़ी हुई।

दूसरा : कैसी समस्या ?

पहला : समस्या यह कि लोगो को यही नही समझ मे आ रहा था कि बासी खिचड़ी खाकर मरने वालो की सख्या को सूखे से मारने वालों की संख्या में से घटाया जाये या जोड़ा जाये ? कहो, थी ना विकट समस्या ?

दूसरा : अबे, तुम लोगों के घटाने-बढ़ाने से मरने वाले जिन्दा हो जायेंगे क्या ?

पहला : अहमक हो तुम ! ये उसूल वाली बातें है और उसूल कहता है कि आँकड़े हमेशा सही और सूत्र हमेशा विश्वस्त होने चाहिएँ।

दूसरा : जैसे मैं जानता नही…लेकिन उसके लिए बस कमीशन बिठा देना था।

पहला : सो तो बिठा भी दिया गया है, साल-दो-साल मे सही आँकड़े सामने आयेंगे ही आयेगे।

दूसरा : अच्छा, यह तो बताओ, रोटी-रोजी कमाने चलना है या यही

शब्दों पर एक बढ़िया ट्यूनिंग सूझ रही है, गाऊँ क्या ?

पहला : गाओ भाई, गाओ ! तुम्हें राष्ट्रीय गौरव गाने से रोकने वाला मैं कौन होता हूँ भला ?

दूसरा : (गाते हुए) या ऽ ऽ द आ गयी वो सम्मेलनी फिजाएँ…

यारो थाम लेना, थाम लेना—

यारो थाम लेना, थाम लेना—

मेरी बा ऽ ऽ हें।

(गाता-गाता दूसरा राहगीर पहले के ऊपर गिरने लगता है।)

पहला : (सहानुभूति से) क्या कमजोरी बहुत ज्यादा हो गयी है ?

दूसरा : (जले-भुने स्वर में) लो, यह भी कोई पूछने की बात है ? जैसे तुम्हें मालूम नहीं कि मेरे गाँव में बाढ़ आयी है। हफ्ते-भर से कुछ खाया नहीं !

पहला . तुम्हें हेलिकॉप्टर वाला खाना उचककर कैच कर लेना था।

दूसरा : तुमसे कहा न, सिर्फ एक बार…उससे पेट भरता क्या ?

पहला : (कौतूहल से) तो क्या बाढ़ आने से पहले तुमने कभी भरपेट खाना खाया था ?

दूसरा : (हड़ककर) जैसे तुम अपने गाँव से सूखा पड़ने से पहले पेट-भर खाते थे ?

पहला : बिगड़ते क्यों हो भाई ? अगर मैंने कहा होता कि मेरे गाँव के सभी लोग भरपेट खाते हैं, तब तुम बिगड़ते तो कोई बात थी। मैं तो खुद ही भूखा हूँ। तुमसे पूछ-पूछकर अपने देश, अपने राष्ट्र को ज्यादा-से-ज्यादा समझने की कोशिश कर रहा हूँ। अब ठीक से जान गया कि जहाँ तक भूखे रहने का सवाल है, हम सब एक हैं।

(इसपर दोनों खुश होकर, थोड़ी देर तक, 'आवाज दो हम एक हैं—हम एक हैं' गाते रहे… गाते-गाते जब हलक सूखने लगे, तो वार्तालाप फिर शुरू हुआ।)

दूसरा : लेकिन एक बात है, रहने-बसने के लिए सूखाग्रस्त इलाके, बाढ़ग्रस्त इलाकों से ज्यादा बेहतर होते हैं।

पहला : कैसे ?

दूसरा : वहाँ राहत-कार्य पहुँचाने के लिए सड़के जो होती हैं और मन्त्री जी के भी पाँव-प्यादे 'दर्शन' हो जाते है।

पहला : हाँ, सो तो है।

दूसरा : सुना, इस बार मन्त्री जी ने खुद खाना परोसा ?

पहला : हाँ ··परोसा तो।

दूसरा : धन्य-धन्य, ऊधो बिदुर घर जायी···ऊधो बिदुर घर जायी··· अच्छा क्या परोसा ?

पहला : पूछो मत ! परोसते तो बहुत-कुछ, लेकिन बेचारे कुल डेढ़ दिन लेट पहुँचे। इधर राहत वाली खिचड़ी और लपसी बुसा गयी।

दूसरा : तुम्हारे गाँव वालो का मुकद्दर खराब था, इतनी देर से खाना भी मिला, तो बासी।

पहला : लेकिन मन्त्री जी का 'दर्शन' ताजा मिल गया; सो सब तृप्त हो गये।

दूसरा : चलो, अंत भला तो सब भला।

पहला : नही, अंत तो गड़बड़ा गया·· बासी खिचड़ी-लपसी खाकर बहुत सारे लोग मरणासन्न हो गये न ! एक समस्या और खडी हुई।

दूसरा : कैसी समस्या ?

पहला : समस्या यह कि लोगों को यही नही समझ मे आ रहा था कि बासी खिचडी खाकर मरने वालों की सख्या को सूखे से मारने वालों की संख्या मे से घटाया जाये या जोड़ा जाये ? कहो, थी ना विकट समस्या ?

दूसरा : अबे, तुम लोगों के घटाने-बढ़ाने से मरने वाले जिन्दा हो जायेंगे क्या ?

पहला : अहमक हो तुम ! ये उसूल वाली बातें हैं और उसूल कहता है कि आँकड़े हमेशा सही और सूत्र हमेशा विश्वस्त होने चाहिएँ।

दूसरा : जैसे मैं जानता नही···लेकिन उसके लिए बस कमीशन बिठा देना था।

पहला : सो तो बिठा भी दिया गया है, साल-दो-साल में सही आँकड़े सामने आयेंगे ही आयेंगे।

दूसरा : अच्छा, यह तो बताओ, रोटी-रोजी कमाने चलना है या यही

बैठकर सही आँकड़ों का इन्तजार करना है ?

पहला : चलना तो है ही, लेकिन किधर ? एक तरफ तुम्हारे गाँव में बाढ़ आयी है और दूसरी तरफ मेरे गाँव मे सूखा पड़ा है" अब जायें तो जाये कहाँ ऽऽऽ · ?

दूसरा : अरे अहमक ! इन दो ही दिशाओं में क्यो ? चलो, दोनों मिलकर तीसरी दिशा मे कमाने-खाने चले ।

पहला : चलो ।

(वे दोनो कुछ ही कदम चले होंगे कि तीसरी दिशा से बेतहाशा भागते आते एक आदमी ने उन्हे इशारा करते हुए चिल्लाकर रोका ।)

तीसरा : अरे, कहाँ जाते हो भाई ? जान प्यारी है तो लौटो" लूट-पाट, दंगा मचा है, मै जान बचाकर भागता हुआ आया हूँ ।

पहला : लेकिन तुम आये क्यो ?

तीसरा : रोजी-रोटी की तलाश में ।

दूसरा : एक से दो भले, दो से तीन—चलो ऐसा करते है, अब तीनो ही एक साथ चौथी दिशा की ओर चलते है, वहाँ रोजी-रोटी का डौल जरूर मिलेगा ।

(इसपर तीनों सहमत हो गये और चौथी दिशा की ओर कूच कर गये। वे चलते गये, चलते गये, जब तक कि चौथी दिशा की सीमा पर उन्हे एक तख्ती लटकी दिखाई नहीं दे गयी । तीनों ने साफ-साफ एक-दूसरे से पढ़वाया । तख्ती पर लिखा था—'सुख-शान्ति और सामान्य जन-जीवन बरकरार रखने लिए—कर्फ्यू !'

अभी वे तीनों पढ ही रहे थे कि कर्फ्यूग्रस्त इलाके में तीन व्यक्तियो के एक साथ निकल पड़ने के जुर्म में पुलिस वाले उनकी ओर बन्दूक के कुंदे लेकर झपटे । वे तीनों बेतहाशा भागे और वापस उसी जगह पर लौट आये जहाँ से चले थे । थोड़ी देर तक तो वे बेतहाशा भागने की वजह से हाँफते रहे, फिर पुलिस के कुंदे से सही-सलामत वापस लौट आने की खुशी मे वे तीनों खुश होकर गाने लगे ।)

तीनो : हम उस देश के वासी हैं"'हम उस देश के वासी हैं जिस देश मे···

लोटते हुए मूसों के बीच कुछ रोमांचक क्षण

बुद्धिजीवी होते हुए न सही, दिखते हुए जीने का एक अलग ही सुख है। वही सुख आजकल मुझमें अन्दर-बाहर व्याप्त हो रहा है। मेरा सब-कुछ बड़ी तेजी से सुरुचि-सम्पन्न होता चला जा रहा है। सस्ते सिनेमा, नाटकों से अरुचि होती जा रही है; सिर्फ समान्तर सिनेमा और प्रयोगधर्मी नाटकों पर ही जीवनयापन चल रहा है। अव्यावसायिक प्रयोगधर्मी नाटकों को देखने का लुत्फ ही कुछ और है। लुत्फ जैसे कि—देखो लोगो, देखो, हम कहाँ बैठे है? अरे हम यहाँ बैठे है—शीशे-मढ़े मखमली कालीनों वाले थियेटर की सामने वाली दूसरी लाइन में, पचास रुपये वाले टिकट मे। यही बैठकर हम सामाजिक शोषण के हाहाकारी पहलुओं पर गुच्छे-गुच्छे-भर नि.श्वासें छोड़ रहे है। आह! इस तरह नि.श्वासें छोड़ने का सुख ही कुछ और है। प्रयोगधर्मी नाटक देखने और उसके दर्शकों के बीच अपने-आपको दिखाने, स्थापित करने की आत्म-तुष्टि। इसमे आत्म-दंभ का भी कोना-कोना तृप्त हो जाता है। रोयाँ-रोयाँ इठलाकर सुरसुराने लगता है। जीवन मे इससे बढ़कर और कुछ चाहिए भी क्या? 'बुद्धिजीवी संस्कार' हुआ और किसी ने जाना ही नही तो मजा ही क्या? अरे जंगल मे मोर नाचा, किसने देखा? यही कहने-सुनने को रह जाता है कि—

हे मन मूरख! जनम गँवायो।

इसलिए हम कुमार गन्धर्व से लेकर, पॉप, डिस्को तक के सारे कैसेट्स खरीद लाये। बड़े गुलामअली खाँ से लेकर गुलामअली तक के सारे फासले मिटा डाले। समूचे संगीतजगत् का जायजा उसी तरह लिया जैसे हेलीकाप्टर से बाढ़ का जायजा। अब हम पक्के से पक्के गाने पर घंटे-आधे-घंटे तक तो झूम-झटक लेते ही हैं। रियाज से सब-कुछ किया जा सकता है। अब ये पूछने कौन आ रहा है कि आप सम पर झूमे या खाली पर? ताली किसपर

बजायी या गर्दन किसपर झटकी ?

काव्य-प्रेम का दौरा आया तो नगरी-नगरी द्वारे-द्वारे कवि-सम्मेलनों में जाकर सारे-के-सारे फड़कते हुए शे'र और चुटकले उतार डाले। डायरी-की-डायरी जमाने के दर्द से कराह उठी। पन्ने-दर-पन्ने चुटकुलों से आबाद होते चले गये और क्रमशः एक वृहदाकार संग्रह तैयार हो गया। सुरुचि-युक्त चयन और सम्पादन का बेमिसाल उदाहरण ! चलिए, साहित्य को भी अपने अहसानों के बोझ तले दाब लिया। अब हम सर्वक्षेत्रों, सभी विधाओं के जानकार, समाज के गण्यमान्य बुद्धिजीवी हो गये।

लेकिन निष्क्रिय नहीं बैठना है; और कुछ नहीं तो इस महान् ग्रन्थ का विमोचन ही करा डाला जाये, इधर-उधर से कवि-कथाकारों को इकट्ठा करके, एक बढ़िया, 'गेट-टुगेदर' हो जायेगा (चाय-समोसे और दाल-मोठ-युक्त) बुद्धिजीवियों का। जो बुलाये उसका भी भला, जो आये उसका भी भला। तो धर मंजर, धर कूच—चल पड़े साहित्य-धाम की यात्रा पर। आखिर मैंने साहित्य के लिए इतना किया, अब साहित्य को भी तो मेरे लिए कुछ करना चाहिए ! और साहित्य इस सुअवसर का लाभ न भी उठायें तो भी मुझे तो उठाना ही है। वैसे भी, आज के समूचे साहित्य का इतिहास तो बहुत हो चुका, अब जरा जुगराफिया भी तो समझना है। कहाँ क्या हो है, इसकी लेटेस्ट जानकारी—जो सभा-सोसाइटियों में तुरप मारने के काम आये।

साहित्य-धाम पहुँची तो चारों तरफ सन्नाटा। बड़ा-सा फाटक मुँह खोले जम्हाई ले रहा था। बड़ी मुश्किल थी। आखिर सब लोग गये कहाँ ? यहाँ तो खासी चहल-पहल हुआ करे थी। बला की उठा-पटक, जबरदस्त धींगामुश्ती, कहा-सुनी, अन्धाधुन्ध बहस, मुबाहसे, चाय, काफी, समोसे—हापापाई, गाली-गलौच, बुद्धिजीवी चिन्तन का भव्य सिंहावलोकन क्या आज में इतिहास बन गया ? आखिर कहाँ गये सब ?

हाँ-हाँ दिख गया। वो रहा, कथाकार-कक्ष। सामने ही तख्ती लगी थी। अन्दर खासा बड़ा कक्ष था, लेकिन पूरा-का-पूरा खाली। सिर्फ थोड़े-से मूस लोट रहे थे। मुझे देखकर सब थोड़ी देर रुके, अचकचाये, लेकिन फिर वापस पलोटने लगे। मैंने काफी प्रेम से पूछा—

'सुनिये, सारे कथाकार लोग कहाँ गये ?'

उन्होंने लोटना रोककर मुझे हैरत से देखा।

'कैसे कथाकार ?'

मैंने कहा—'कैसे क्या ? वही जो यहाँ रहते हैं…।'

उन्होंने उद्दण्डता से कहा—'यहाँ तो हम रहते है ।' और फिर से मुदित-मन, कलामुडियाँ खाने लगे।

मैं परेशान थी। इतने में एक 'मेठ' जैसा दिखता मूस आगे आया और बड़ी लीडरी अदा से बाकियों को पीछे धकियाते हुए मुझसे पूछा—

'कहिये, क्या कुतरवाना है… ?'

और बगैर मेरी हकबकी मुद्रा पर ध्यान दिये जल्दी-जल्दी रेट बोलने लगा—'उपन्यास चाहेंगी तो हफ्ते-भर मे कुतर जाएगा, कहानी-सग्रह थोड़ा ज्यादा टाइम लेते है…। कविता-संग्रह अव्वल तो कोई मूस कारीगर लेता नही, और लेता है तो कभी वायदे के मुताबिक़ कुतरकर नही दे पाता। दरअसल ये लोग भी वही-वही चीज कुतरते-कुतरते तंग आ जाते है। लेकिन आप जैसे लोग बाजार का रुख तो देखते नही, कुछ भी कुतरवाने पहुँच जाते है ।'

मैंने कहा—'मैं तो कथाकारो का अता-पता पूछ रही थी ?'

उसने बडी संजीदगी से कहा—'हम कथाकारों को नही, सिर्फ उनकी कृतियों को कुतरते है ।'

'अहे किस्मत; लेकिन आप उनका पता-ठिकाना तो बता ही सकते हैं।'

'कथाकार ! जी हाँ, कुछ कथाकार लोग रहते थे हमारे आने मे पहले यहाँ…लेकिन वे लोग काफी दिन हुए यह जगह छोड़कर चले गये…।'

'चले गये ? कहाँ ?'

'अब ये सब तो हमे नही मालूम सही-सही, लेकिन सुना है इनमें से बहुत सारे तो सीरियलो में समा गये। बाकी बचे हुए गिन-गिनकर पुरस्कारों को प्यारे हो गये। रहे-सहे सम्मानों, सम्मेलनों मे। बाकियों ने खुद-ब-खुद अपने नाम एक-एक सम्पादकी अलाट करवा ली। चलो, टिकट-लगे पते लिखे लिफाफों की झंझट से हमेशा के लिए छुटकारा वैसे कुछ छुटभैय्ये आपको आस-पास के खेमों में खूँटे गाड़ते-उखाड़ते मिल जाएँगे।'

'लेकिन यहाँ क्या कोई नही ?'

'न जी यहाँ कोई नही ।'

'और ''और आप लोग क्या कर रहे हैं'''?'

'लोट रहे है ''।' उसने अपने साथियों की ओर इशारा करते हुए कहा और खुद भी उसी क्रिया को करने की ओर प्रवृत्त हुआ कि मैंने पूछा—

'अच्छा, यहाँ कुछ कवि लोग भी तो रहते है न' ?'

'हमें नही मालूम । कहा न, वे लोग हम लोगो को ज्यादा पसन्द नही करते, क्योंकि उनके काव्य-सग्रहों की खपत हमारे यहाँ नही होती । वैसे उधर एक कंदरा है, होगे तो उसी मे होंगे'''।'

थोडा इधर-उधर भटकने के बाद कवि-कदरा की तख्ती भी दिख गयी । अन्दर यहाँ भी सारे कानन-कुंजों मे सन्नाटा था । न कवि न कवि का बच्चा ! दूसरे शब्दो मे, न कवि लोग न उनके बाल-बच्चे । अलबत्ता कदरा की एक खाई मे 'हुआँ-हुआँ' जैसी आवाजें आ रही थी । मेरा दिल धडधडा उठा । अवश्य कोई अनहोनी, अनभो घटित हुआ है या होने वाला है ।

साथ आई सहेली ने पूछा—'तुम्हारी समझ से क्या हुआ होगा'''?'

मैने डबडबाई आँखो से देखा—'पता नही, मुझे तो डर है कही कोई दिवगत न हुआ हो ' ।'

सहेली ने कहा—'तुममें यही खराबी है । हमेशा अशुभ अनभो ही सोचती हो । कोई कवि पुरस्कृत, सम्मानित भी तो हुआ हो सकता है ! हो सकता है उसीकी ध्वनि हो !'

मैंने कहा—'नही, वैसा हुआ होता तब तो सियापा छाया होता! किसी के मुँह मे बोल न फूट पाते ।'

'लेकिन यह हर्ष की ध्वनि है या रुदन की ?'

'पता नहीं; बुद्धिजीवी स्तर की बातों का कुछ पता नही चल पाता''' उनके रुदन में हास्य छुपा होता है और हास्य मे रुदन—यानी कि जब हँस रहे हों तो समझ लेना चाहिए कि अन्दर-अन्दर रो रहे हैं और जब रो रहे हों तो उसका मतलब अन्दर-अन्दर लड्डू फोड रहे हैं ।'

इतने मे 'हुआँ-हुआँ' की आवाजें फिर से आने लगी । हम दिल हथेली पर लेकर अन्दर घुसे । जो कुछ देखा उससे सन्न रह गये । अन्दर ढेर सारे

सियार थे जो हमें देखते ही झट से चुप हो लिये।

हमने पूछा—'यह 'हुआ-हुआ' क्यों हो रहा है... ?'

वे लोग खुश होकर बोले—'हम सियार लोगों का आज 'गेट-टुगेदर' है।'

'अरे तो इसमें इस तरह 'हुआ-हुआ' करने की क्या बात है...?' मैंने हैरान होकर पूछा।

'वाह ! है क्यों नहीं ? हम लोगों का गेट-टुगेदर हुआ, क्या खूब हुआ गेट-टुगेदर ! हुआ-हुआ गेट-टुगेदर हुआ। ...जानती हो हम लोगों से पहले जो लोग यहाँ रहते थे, वे इसी तरह अपना गेट-टुगेदर करते थे।'

मैं खुशी से उछल पड़ी—

'अरे हाँ, वो लोग ? यानी कवि लोग ? कहाँ गये वो लोग ?'

इसपर वे सब अपने-अपने और एक-दूसरे के कान खुजाने लगे।

'याद नहीं आ रहा...।'

मैंने याद दिलाने की कोशिश की—'सोचिए, कहीं फिल्मों में, टी०वी० सीरियलों में तो नहीं...'

'हाँ-हाँ, उन्हीं सब जगहों में...लेकिन सब नहीं, थोड़े-से...।'

'ठीक है, ठीक है...और बाकी ? बाकी कहाँ गये ?'

'अमरीका।'

'अमरीका ? वहाँ तो सिर्फ हास्य-कवि जाते हैं न ?'

'येल्लो ! तो और कौन-से कवियों की बात आप कर रही हैं ? क्या और भी किसी नस्ल के कवि होते हैं दुनिया में ?'

'छोड़िये, अच्छा हम चलते हैं। सॉरी, हमारे आने से आपको डिस्टर्ब हुआ...।'

'हाँ, हुआ-हुआ डिस्टर्ब हुआ, पर गेट-टुगेदर भी तो हुआ...।'

उन्हें उसी तरह हुआँ-हुआँ करता छोड़ मैं बेतहाशा फाटक की तरफ भागी, लेकिन इतने में बीच के एक कमरे से ढेर-के-ढेर लोग तरह-तरह की पर्चियाँ लिये 'मानुषगन्ध, मानुषगन्ध' करते हुए मेरे पीछे दौड़े। आफत आयी देख, मेरा बुद्धिजीवी संस्कार दुम दबाकर भाग खड़ा हुआ। मैं लगी रोने-गिड़गिड़ाने कि मेरे पास तो सिर्फ दो कौड़ी के बुद्धिजीवी संस्कार हैं,

इसके अलावा फूटी कौड़ी भी नहीं···आप लोग मेरे पीछे क्यों पड़े हैं? और ये पर्चियाँ क्यों उछाल रहे हैं···?'

उन्होंने कहा कि, 'ना माँगूं सोना-चाँदी और ना माँगूं फूटी कौड़ी ' हमें तो सिर्फ अपनी-अपनी परिचर्चा के लिए वक्तव्य चाहिए बस· दरअसल हम *लोग परिचर्चा-आयोजक हैं।''*

ऐसा कहते हुए वे सब फिर एक-दूसरे को धकियाते हुए अपनी-अपनी पर्ची हमें थमाने लगे···उन पर्चियो पर तरह-तरह की परिचर्चा के शीर्षक लिखे थे; जैसे—साहित्य में लगी सेंध और लुटेरों का भविष्य· ·, महिला कथाकारो का पहला प्यार·· , पुरुष कथाकारों का उजड़ता ससार···, मंच पर दो दिग्गजों की भिड़न्त : कितनी उचित कितनी अनुचित·· कृपया अपना वक्तव्य पासपोर्ट-साइज फोटो के साथ पांच दिनो के अन्दर भेजने की कृपा करें।

नोट : प्रिय पाठकगण ! किसी तरह चोरी-छुपे यह पर्ची आप तक भेज रही हूँ। साहित्य-धाम के इस कक्ष में परिचर्चाकारो ने मुझे नजरबन्द कर रखा है। एक के बाद एक, वक्तव्य, जीवनदर्शन लिखते-लिखते जान पर आ बनी है। इस थोड़े लिखे को बहुत समझें। और कृपया पर्ची पाते ही शीघ्र छुड़ाने का उपाय करें।

सोफानामा

हम तो इसे परिवार के इतिहास मे घटी एक अभूतपूर्व घटना के रूप में ही लेना चाहते थे कि हमारे घर मे भी एक फूलदार सोफा हो, पर अल्लाह-बख्श कारीगर की धूर्तता ने इसे एक हादसा ही बनाकर छोड़ा। कितनी तमन्ना से उसे घर पर ही आकर सोफा बनवाने के लिए तैयार किया था! सोचा था, ऑफिस का कारीगर है, साहब का रोब मानेगा, कम खायेगा और ज्यादा काम करेगा। देर-सवेर रोक सकेंगे। कभी-कभी सागभाजी भी ला दिया करेगा। और सबसे बढ़कर समय का पाबन्द रहेगा। लेकिन हुआ क्या?

वह समय से कभी नही आया। मेरे पति ने कितने ही बहानो से छुट्टियां ले-लेकर उसका इंतजार किया, पर होता यह कि जिस दिन हमारी चचेरी बुआजी स्वर्गवासी होती, ऐन उसी दिन अल्लाहबख्श की खालाजान खुदा को प्यारी हो जाती। जिस दिन इनके बड़े ताऊजी की श्राद्धवाली छुट्टी की सुबह होती, उसी दिन अल्लाहबख्श अपने सौतले अब्बाजान के इतकाल का मातम कर रहा होता। खुद अल्लाहबख्श के शब्दो मे—खुदा की नजर में गरीब-अमीर का फर्क नहीं होता। वह हमारी फूफी और उसकी खालाजान को एक ही दिन अपने प्यारो मे शरीक कर सकता है। बहरहाल हम उसकी इस हिमाकत पर उसी तरह चुप लगा गये जिस तरह इनके बॉस बड़े ताऊजी की श्राद्धवाली छुट्टी की अर्जी पर।

छुट्टी की बात आयी तो कह दूं कि इस सोफा-निर्माण-काल में अर्न-लीव, मेडिकल, कैजुअल और प्रिविलेज, सभी प्रकार की छुट्टियां ये ले चुके हैं। संसार मे जितने भी प्रकार की छुट्टियां होती हैं उनमें बस मेटरनिटी लीव ही ऐसी थी जिसे कुछ बुनियादी कारणवश ये नही ले सके! पर फायदा कुछ-न-कुछ उठाया ही गया। मसलन लाख मना करने पर भी मेरी

एकाध डिलिवरी हो ही गयी। पहले पैदा हो गये बच्चों का भी सहयोग लिया। उन्हें बारी-बारी टायफॉयड, निमोनिया और मलेरिया हुआ, जिस वजह से पांच-छह दिन की छुट्टी और जुड़ गयी। पर फायदा खाक-भर भी न हुआ! होता कैसे, हमारे बच्चे को मलेरिया हुआ तो अल्लाहबख्श के नूरचश्म को खसरा हुआ, और वह फौरन शहर मे खसरे की पहली सूचना देकर एक हजार रुपये का इनाम जीतने म्युनिसपैलिटी के दफ्तर भागा। हारकर एक दिन ये खुद उसके घर गये। बहुत डाँटा-डपटा, धमकाया तो वह दूसरे दिन आने को तैयार हो गया। इस दिन छुट्टी के लिए कोई कारण न मिलने पर इन्होंने अपनी साली को ही किसी विजातीय युवक के साथ भगाना उचित समझा, सो अर्जी भेज दी। मगर अल्लाहबख्श नही आया। तमतमाये हुए उसके घर पहुँचे तो वह हुमककर बोला—"यह सब आपका ही किया-धरा है। मुझे मेरे ही दरवाजे पर आपने इस तरह जलील किया कि मेरी बीवी मुझसे झगड़कर खुदकुशी करने चली गयी। मैं खुद गुस्से में था इसलिए अपने एक पड़ोसी को उसे बचाने, समझाने के लिए भेजा। उस मरदूद ने जाने कैसे समझाया कि वह उसी के साथ भाग गयी!"

साग-भाजी वह कभी नहीं लाया। जब कभी घर पर सोफा बनाने आया ये ही बाजार से उसके लिए चाय का कुल्हड़ या बीड़ी का बंडल लाये। क्योंकि अल्लाहबख्श इस शहर में हमसे सैकड़ों साल पहले से रहता आया था, अतः चाय पीने या बीड़ी लाने बाहर जाता, तो कोई-न-कोई खैरख्वाह मिल ही जाता, जो बिना पान खिलाये, चाय पिलाये छोड़ता ही नही और दुआ-सलाम होते, हालचाल पूछते, घंटे-दो घंटे लग ही जाते हैं।

सोफे के लिए रुई, टाट, लकड़ी, स्प्रिंग, कपड़े आदि के चुनाव पर हमने इतना ध्यान दिया कि खुद अपनी शादी मे एक-दूसरे के चुनाव पर उतना ध्यान नही दिया था। अनुभव कहाँ था तब इतना! पर अब अनुभवी होने के कारण ये खुद अपने सामने सागौन का पेड़ कटवाकर लाये थे। हमें पैसों की उतनी फिक्र नहीं थी, पर चीज असली और टिकाऊ चाहते थे। विश्वास आजकल किसका किया जाये? सागौन की जगह कोई आम-जामुन की लकड़ी ला देता तो उसका क्या कर लेते! टाट के पीछे बहुत दिनों तक काम रुका रहा। अल्लाहबख्श ने कई तरह के जूट के टुकड़े ला-लाकर दिखाये।

पर इन्हें सस्ती, नकली चीजे पसन्द नहीं आतीं। वह शुद्ध टाट था ही नहीं। डेढ़ महीने बाद मौका निकाल, ऑफिस के काम के ही बहाने कलकत्ते गये और वहीं सीधे जूट मिल के कर्मचारियों से मिलकर शुद्ध टाट लाये। आने पर सबको दिखाया। सबने बड़ी तारीफ की।

रुई हम सोफे के लिए 'इंपोर्टेड' चाहते थे। पर पता चला कि रुई अपने ही देश में पैदा होती है। बड़ी कोफ्त हुई कि इतना बड़ा 'फॉरेन', जहाँ से जूते के फीते से लेकर कंघी-चोटी तक लोग मँगवाते रहते हैं, वहाँ हमारे सोफे की रुई हमें अपने देश में ही खरीदनी पड़ रही है। खैर, इन्होंने हिम्मत नहीं हारी। भारत के कपास पैदा करने वाले क्षेत्रों और उनमें पैदा होने वाली कपास के प्रकारों का अध्ययन किया। फिर उत्तम कोटि की कपास के लक्षण व नमूने लेकर मंडी में प्राप्त कपास से मिलाये। कहना न होगा कि मिलावट थी, पर दुकानदार ने समझाया कि वह छाँट-छाँटकर रुई चढ़ायेगा सो हमने पिचहत्तर प्रतिशत शुद्धता पर ही सन्तोष कर लिया।

इस लिहाज से सोफे के कवर के कपड़े के लिए मैंने तो सोत्साह घर में ही हाथ-करघे की योजना बना डाली थी, पर 'ये' उतने प्रैक्टिकल न निकले और हम दिल्ली जाकर डी० सी० एम० के शो-रूम से स्वयं कपड़ा ले आये। बाजार में दरियाफ्त करने पर पता चला कि जो कपड़ा हम सोलह रुपये नव्वे पैसे मीटर दिल्ली से लाये थे, वह इस शहर में सत्रह रुपये मीटर मिल रहा था। इस खुशी में हम दोनों ने वैवाहिक जीवन में पहली बार एक-दूसरे को प्रेम-भरी नजरों से देखा!

'स्प्रिंग' हमने 'एक्सपोर्ट क्वालिटी' के खरीदे। दुकानदार ने बड़े गर्व से बताया कि उसकी दुकान की हर चीज 'एक्सपोर्ट क्वालिटी' की ही है। उसकी बनायी कुर्सियों, सोफों पर हर क्षेत्र के दिग्गज बैठे, लेकिन स्प्रिंग ढीले नहीं हुए। उसने हमारे परिवार के आयतन और घनत्व को देखते हुए पुख्ता स्प्रिंग दिये। तसल्ली कर लेने के लिए उसके शो-रूम के समस्त सोफों पर हम सपरिवार चढ़े-उतरे, पर स्प्रिंग नहीं टूटे, हमें तसल्ली हुई।

हम यह देखकर दंग थे कि अभी सोफा तैयार भी नहीं हुआ और हम 'सोफेवाले' साहब के नाम से शहर के कोने-कोने में प्रसिद्ध हो चुके थे। राह चलते लोग मिलते। फिर दुआ-सलाम के बाद सोफे की लम्बाई-चौड़ाई

पूछते। कोई चीज किसी दुकान पर भूल से रह जाती तो वह सोफेवाले साहब के घर पहुँचा दी जाती। धन्यवाद देने पर लोग कहते—"अजी, इसमे धन्यवाद की क्या बात ! हमने सोचा चीज भी लौटा देंगे, लगे हाथों सोफा भी देख लेंगे।"

दोपहर-भर ये सामने बैठकर अल्लाहबख्श के काम की निगरानी करते। इन्हे डर रहता कि इनकी अनुपस्थिति मे अल्लाहबख्श जरूरत से ज्यादा कीले ठोंक देगा और सोफा कमजोर हो जायेगा। उसे सख्त हिदायत दी गयी थी कि कीलें कम-से-कम ठुँकनी चाहिएँ। लेकिन हालत यह थी कि काम देखते-देखते जरा-सी झपकी इन्हे आती कि अल्लाहबख्श ठाँय मे एक कील ठोंक देता। ये जागकर इस तरह तड़प उठते मानो कील सोफे मे नही, सीधे इनके सीने मे चुभ गयी हो। समझाया इन्हे भी, अल्लाहबख्श को भी, पर असर किसी पर नही हुआ। वह कील ठोंकता रहा। ये माथा ठोकते रहे। इनकी करुण दशा देखकर अपना हृदय भी छलनी हो रहा था। पर न इन पर वश था, न अल्लाहबख्श पर, न सोफे पर।

बहरहाल सोफा तैयार हो गया और ये और अल्लाहबख्श दोनों बीमार हो गये। अल्लाहबख्श का कहना है कि वह इनकी वजह से बीमार पड़ गया। इनका कहना है कि ये अल्लाहबख्श की वजह से बीमार पड़े। डॉक्टर का कहना है कि दोनो ही सोफे की वजह से बीमार पड़े। जिस दिन सोफा बनकर तैयार हुआ, बच्चे खुशी से किलकारी भरते हुए उसपर बैठकर उछलने लगे'''इनका बुखार दो डिग्री बढ गया। मैंने बच्चों को समझा दिया—"पिताजी ठीक हो जायें तब बैठना, हम सब साथ बैठेंगे।" हम सबने बड़ी बेसब्री से इनके ठीक होने की प्रतीक्षा की कि जिसने रात-दिन खून-पसीना एक कर ऐसा सोफा बनवाया उसके साथ बैठेंगे। पर ठीक होने पर इन्होंने हम सबको सख्त हिदायत कर दी कि नये सोफे पर कोई बैठने न पाये—कवर गंदा हो जायेगा, स्प्रिंग ढीले हो जायेंगे तथा पालिश की चमक जाती रहेगी। इनकी दूरदर्शिता पर हम सब चकित थे'''बच्चों की जिज्ञासा थी कि तब इस सोफे का क्या किया जायेगा ?

इन्होंने उसी दिन फटी-पुरानी चादरों और साड़ियों का कवर बनवाकर पूरे सोफे को ढँकवा दिया है, ताकि हमारा सोफा वैसा ही चमकता, नया

बना रहे। जब कोई आता है, वे उत्साह से कवर हटाकर दिखाते हैं और बाद में हम सब फिर बड़ी तत्परता से उसे ढँककर बांध देते हैं। शुद्ध सागौन, शुद्ध टाट और शुद्ध रुई से निर्मित इस सोफे को देखने के लिए सारे दिन जान-पहचान, नाते-रिश्ते के लोग आते रहते हैं। इनकी खुशी का ठिकाना नहीं। मुश्किल यही है कि बैठने को जगह नहीं रह जाती। जरा 'इनका' स्वास्थ्य पूरी तरह सुधर जाये तो कहूँ कि कुछ पीढ़े, पटरे या मूढ़े वगैरह रखवा लिये जाते तो बैठने की समस्या हल हो जाती। नहीं तो बच्चे अपने संगी-साथियों को सोफा दिखाने के बाद कहते हैं—"देखा हमारा सोफा? लेकिन इसपर बैठना नहीं! खाली इसे देखते हैं बस!" ▭

दो शब्द : पड़ोसियों के कुत्तों पर

मेरे घर आने-जाने वालो की शिकायत है कि मेरे मुहल्ले मे आदमी कम, कुत्ते ज्यादा रहते है और इसका असर मुझपर इस तेजी से पड़ने लगा है कि मुझे आदमी से ज्यादा अब कुत्ते की सोहबत पसद आने लगी है। यहाँ मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि यह आरोप जिसे मै वास्तव में आरोप नही समझती, मुझपर ईर्ष्यावश ही लगाया गया है। क्योकि मै जिन कुत्तो की सोहबत पसन्द करती हूँ वे गली, सड़क में मारे-मारे फिरने वाले और जूठी पत्तलो मे मुँह डालने वाले कुत्ते नही हैं। वे बाकायदा बड़े-बड़े फाटको और 'टैरेस' मे सडक पर गुजरने वाले राहगीरों पर गुर्राकर ऐतराज प्रकट करने वाले कुत्ते हैं।

तबके की दृष्टि से ये कुत्ते, कुत्तो से क्या इन्सानो से कही बेहतर है। इनकी सोहबत किसे नही पसन्द होगी? वैसे भी मेरे विचार से जिस कालोनी मे जितने ज्यादा सभ्य, सुसंस्कृत और सम्पन्न लोग रहते हैं, उनमे कुत्तो की सख्या उतनी ही ज्यादा होगी।

यो भी संस्कृति, सभ्यता, स्वभाव और आदतो की दृष्टि से मनुष्य जितना इस जीव का ऋणी है, और किसी जीव का नही। मन बहलाने के लिए आप भले ही किसी मातहत को उल्लू, गधा, सूअर या इनकी संततियों के नाम से संबोधित कर ले, परन्तु 'कुत्ते' शब्द में जो व्यजना है वह इनमें से किसी में नही।

मेरे पड़ोस में एक अदद पति-पत्नी तो ऐसे हैं जो एक-दूसरे के साथ रहना तो क्या, एक-दूसरे का मुँह तक देखना पसन्द नही करते। लेकिन दोनों ही अपने कुत्ते के साथ रहना बेहद पसन्द करते हैं। इसीलिए दोनों साथ-साथ अर्थात् कुत्ते के साथ उठते-बैठते, खाते-पीने और टहलने आते-जाते दिखाई देते हैं। देखने वाले, दोनो को कुत्ते से प्यार है, के बदले दोनों

को एक-दूसरे से प्यार है, ऐसा अर्थ लगाते हैं। इन पति-पत्नी को एक-दूसरे से जो कुछ कहना होता है, कुत्ते के माध्यम से कहते हे ; जैसे सूरदास जी के भ्रमर गीत मे भ्रमर के माध्यम से गोपियों ने उद्धव की लानत-मलामत कर डाली थी। अगर यह पालतू कुत्ता न होता तो इस दम्पती के बीच कभी का तलाक हो गया होता।

यह तो एक पड़ोसी के कुत्ते की बात हुई। बाकियों के कुत्ते भी उतने ही ज्यादा प्रेमी-प्रकृति के हे। घर मे घुसते ही आने वाले के ऊपर इस कदर उछल-कूद, लपट-झपटकर तलवे से लेकर गाल तक चाटना शुरू कर लेते हैं कि 'कहुँ मुरली कहुँ पीत पट, कहुँ मुकुट वनमाल--' वाली स्थिति हो जाती है और ऐसी स्थिति में न घर में रुका जा सकता है और न वापस ही लौटा जा सकता है। प्रेम के क्षेत्र की ज्यादती की तरह इस ज्यादती को भी बरदाश्त करना पड़ता है। भयभीत मन को सन्त कबीर समझाने लगते हैं—

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाँहि,
सीस उतारे भुइँ धरे, तब पैठे घर माँहि।'

बात समझ में आने लगती है—रे मन! यह कबीर दास जी की खाला का घर नहीं, अपने पड़ोसी के कुत्तों का घर है। यहाँ चुपचाप चटवा लो, नही तो चौदह इंजेक्शन लगवाने पड़ सकते है।

इन सभी पड़ोसियो ने अपनी-अपनी हैसियत, औकात और प्रकृति के हिसाब से कुत्ते पाल रखे हैं। ये कुत्ते अपने मालिकों का पूरा प्रतिनिधित्व करते है मसलन कोई-कोई, दिन-के-दिन अपनी दुम ही हिलाते चले जाते है। देखते-देखते ऐसा लगता है जैसे पूरी दुनिया ही हिले जा रही है। कुछ ऐसे हे जो घुसते ही सीधे आकर जूतों के नीचे से चाटने के लिए तलुवे तलाशने लगते हैं। कुछ और पड़ोसियों के कुत्ते है जो सिर्फ भौंकते ही रहते है--हर बात पर, या बिना बात पर। कुछ के कुत्ते राहगीर की हैसियत पहचानते ही इस बुरी तरह अन्दर से ही झपटकर गुर्राते हैं कि छोटी औकात वाला आदमी फाटक से ही दहलकर लौट जाये। इसी हैसियत वाले मेरे एक पड़ोसी का दावा है कि उनका कुत्ता हमेशा अंग्रेजी मे ही भौंकता है। उनके कथन में काफी सचाई है क्योकि मैने आज तक अपने कुत्ते से, उन्हें हिंदी

बोलते नही सुना। गालियाँ भी देंगे उसे तो अंग्रेजी की ही, अच्छी-अच्छी।

कुत्तो वाले पड़ोसियों के घर जाते समय आपको सिर्फ एक बात का ध्यान रखना चाहिए, वह यह कि ऐसों के घर जाते समय या तो किसी दोस्त को साथ ले लीजिए या दुश्मन को। दोस्त इसलिए कि मान लीजिए, कुत्ता आपको काट ही खाये तो दोस्त चिकित्सा आदि का प्रबन्ध कर सके, और दुश्मन इसलिए कि कौन जाने कुत्ता उसी को काट खाये!

बहुत ऊँची नस्ल वाले कुत्ते चौकीदारी के लिए नही रखे जाते, वरन् उनकी ही चौकीदारी के लिए आदमी रखे जाते हैं। फिर भी ज्यादातर कुत्तों ने अपने पुश्तैनी पेशे को छोड़ा नही है। ऐसे कुत्तों मे पडोसियों को बड़ी-बड़ी आशाएँ रहती है। क्योकि वे अच्छी तरह जानते है कि अगर कभी खुदा-न-ख्वास्ता नादानी से घर मे चोर घुस आये तो पड़ोसी सोते रहेंगे, कुत्ते जग जायेंगे।

पड़ोसी के कुत्तों के अतिरिक्त कुछ और भी तरह के कुत्ते होते हैं; जैसे गली का कुत्ता, धोबी का कुत्ता, आदि। धोबी के कुत्ते की विशेषता यह होती है कि वह न घर का होता है न घाट का। वह इस घाट से उस घाट डोलता रहता है और हर घाट पर एक धोबी लादी लिये उसकी प्रतीक्षा करता खडा मिलता है। स्थिति काफी कुछ आज के औसत आदमी से मिलती-जुलती है। रह गए गली के कुत्ते, तो ये अपनी कथनी से ज्यादा करनी पर विश्वास करने वाले होते हैं और अक्सर ज्यादा दुरदुराये जाने पर सिर्फ भौंकते नही, लपककर काट खाते है। इस दृष्टि से ये कुत्ते बड़े खुश-नसीब होते है। कम-से-कम आम आदमी से कही ज्यादा सुखी, सुरक्षित और बेहतर स्थिति वाले। लेकिन जहाँ तक आदमी का सवाल है ऐसी स्थिति में आदमी को फौरन सरकारी अस्पताल जाकर इन्जेक्शन लगवा लेना चाहिए। उसे यह पता लगाने की जरूरत नही कि कुत्ता पागल था या नही। सरकारी अस्पताल का कम्पाउन्डर खुद ही समझ जाएगा कि जब तक किसी व्यक्ति को पागल कुत्ते ने न काटा हो, वह भला 'सरकारी-अस्पताल' मे इन्जेक्शन लगवाने क्यों आयेगा?

फिलहाल हम इस झगडे में नही पडना चाहते। हमें तो सूरदास जी से लेकर बच्चन जी और त्यागी जी ने जो रास्ता दिखाया है उसी पर चलना

है। सूरदास जी ने सद्यःस्नात कुत्ते की शोभा का चमत्कारी वर्णन किया है (संदर्भ : श्वान न्हवाये गंग) तथा बच्चनजी भी किसी जमाने मे इनके भौंकने से प्रेरणा ग्रहण कर सारी-सारी रात लिखा करते थे (संदर्भ : रात-रात भर श्वान भूंकते) और त्यागी जी का तो मनपसन्द विषय ही नवयुवतियों के बाद ये कुत्ते ही हैं। अलबत्ता शरद जोशी जी उतनी हारमनी नही बरत पाते। न वे दुम हिलाने वाले कुत्तों की परवाह करते हैं न भौंकने वाले कुत्तों की—इनसे ज्यादा मजा उन्हे 'जीप पर सवार इल्लियों' को 'चेज' करने मे आता है। सुना है कुत्तों की कम्यूनिटी मे इस बात को लेकर काफी रोष और असन्तोष है। शायद उन्हें भय है कि साहित्य और समाज मे उनका रुतबा घट रहा है, या और किस्म के जीव-जन्तुओं में बँट रहा है। शायद उनकी पॉप्यूलैरिटी खटाई मे पड़ती नजर आ रही है उन्हे।

लेकिन मैं उन्हे बताना चाहती हूँ कि उनका भय निराधार है जब तक मेरे पड़ोस और पड़ोसियों जैसे मुहल्ले और वाशिंदे हमारे समाज में हैं, कम-से-कम कुत्तों को डरने की कोई जरूरत नही। उन्हे पूरा आरक्षण प्राप्त रहेगा। अलबत्ता डरना तो इस गली-सड़क से गुजरने वालो को चाहिए।

▭

यादें न जायें हाये···
रचना-शिविर की अंतिम साँझ की

कायदे से देखा जाए, तो नेपथ्य मे करुण सगीत के साथ उद्घोषक का स्वर उभरना चाहिए "उद्घोषक दर्दीली आवाज मे कहेगा—"लोमा टाइम—आधी रात का समय है त्रिदिवसीय रचना-शिविर की अन्तिम साँझ ढल चुकी है। हाँ, यह वही पंडाल है जहाँ कुछ घण्टे पहले तक इंटेलिजेंसियाज मुट्ठियाँ तान-तानकर चीख रहे थे, श्रोता और दर्शक मूंगफली छील-छीलकर खा रहे थे, अभिनेता पर्दे के पीछे से झाँक-झाँककर मुग्ध हो रहे थे, लेकिन इस समय · इस समय भारतीय संयोजन जगत् के भीष्म पितामह श्री अमुकजी (नाम काल्पनिक) उसी हॉल मे हत्थे मे उखड़ गयी कुर्सियो, और नोंची गयी फूलमालाओं के बीच वेचैन करवट बदल-बदलकर कराह रहे हैं। टूटी बेंचों और कुर्सी तथा मेजों के पाये ही मानो शरशय्या की तरह सुशोभित है। हॉल मे गहरा अँधेरा। पितामह रचना-शिविर की एक-एक याद को कचोटते हुए बीच-बीच में पानी-पानी की ध्वनि निकालते है। पर, आह ! कौन है वहाँ बचा अब पानी का दिवैय्या ! आगे का हाल *स्वयं पितामह के श्रीमुख से* "

पितामह अपने-आपसे—"नही करूँगा, कभी नही करूँगा—आगे से शिविर का आयोजन।" पितामह अपनी स्थिति से मिलती-जुलती एक फिल्मी गीत की पंक्ति गुनगुनाते हैं, जिसका आशय है—'सोचा क्या, क्या मिला—वेवफा आ आऽ-ऽ-ऽ तेरे प्यार मे'···अर्थात् 'फेर' मे···तभी जूतम-पैजार के बीच लगी चोट कसक उठती है—पितामह कराहते हुए अपना स्वगत-कथन चालू रखते हैं—

"आह ! सब-कुछ तो ठीक कर लिया था। वक्तान को पचास रुपये, श्रोतान को पिचहत्तर। यह भी स्पष्ट कर दिया था कि जो चुप्पे-चाप सुनेगा,

वक्तान पर फब्ती नही कसेगा, तो पूरा नम्बरी नोट सौ सैकड़े का; लेकिन श्रोता कम पाजी हैं क्या आजकल के? पहले पूछेंगे—'सुनना किन अहमकों को होगा, यह बताओ पहले। अरे, हमने अपने माँ-बापों की नहीं सुनी, तो उनकी क्या सुनेंगे!' और आप जानो ऐसों-ऐसों को सुनने के लिए सॉलिड कलेजा और नापा-जोखा ब्लड प्रेशर चाहिए। माइक सामने पाकर तो ऐसा हाँकना शुरू करते हैं कि यही जी में आता है कि अपनी जूती और उनकी टोपी एक···समझा-बुझाकर, नम्बरी नोट दिखाकर लौट आये, तो 'वक्तान' परवान चढ़ गये—'फलाने (नाम काल्पनिक) घण्टे-भर बोलेंगे और हम पन्द्रह मिनट? उनसे किस मायने में गये-गुजरे हैं जी? याद रखिए, उनका लेख भी पन्द्रह मिनट का कराइए, नहीं तो मेरी जूती और उनकी टोपी···।'

समस्या सबके जूते-टोपियों की थी। अत. बहुत सोच-विचारकर हल निकाला, निमन्त्रण-पत्र में छापा—

'कृपया रचना-शिविर मे जूते या टोपी पहनकर आने का कष्ट न करें। धोती-कुरता ही काफी है।'

जख्म फिर कसकता है—पितामह फिर कराहते हुए एक शे'र पढ़ते हैं, जिसका भाव है—'मरना भी मुहब्बत मे किसी काम न आया।'

सस्मरण आगे चलता है—पितामह को याद आता है—हाँ···पहले दिन के विषय थे—कथाक्रम, रचनाधर्म और समीक्षादर्शन। स्थिति नियन्त्रण में रही। समीक्षक बोले, तो रचनाधर्मी गुस्से से फनफनाते नम्बरी नोट मुट्ठी मे दाबे बाहर हो गए; और कथाक्रम चला तो समीक्षक उबासियाँ लेते, क्यू लगाकर बाथरूम चले गए। ठीक भी था। समीक्षक बोले, तो समीक्षकों ने सुना। कथाधर्मी बोले, तो कथाधर्मियो ने—(सन्दर्भ—हरि बोला—हरि ने सुना)

"यों महामन्त्री ने पहले ही कह दिया था, 'भिडें, तो भिड़ने देना, आखिर गोष्ठियो की जागरुकता का सवाल है! ऐसा कहना एक-दूसरे से। बीच मे बोलना और पड़ना नहीं, क्योंकि आजकल संयोजक और महामन्त्री का बीच मे बोलना बहुत खतरनाक हो गया है बन्धु!' किया क्या जाए, बोलना खतरनाक, चुप रहना बहुत मुश्किल! बीच की स्थिति कोई होती,

तो रचना-शिविर मे लायी जाती—लेकिन होती तब न ? स्थिति तो साँप-छछूँदर वाली हो गयी मेरे भाई ! आह !"

स्मृतियाँ कसक रही हैं—दूसरा दिन कवि-गोष्ठी का था। सब-कुछ ठीक-ठीक ही चला। स्थिति नाजुक होते-होते सँभल गयी। कविजन यों भी 'माल-न्यूट्रीशन' से पीड़ित दुर्बलकाय थे।

काव्य-प्रवाह बहता जा रहा था, बरसाती नाले की तरह ' लोग दाद दे-देकर सिर धुने जा रहे थे''' इसके सिवा कोई चारा भी न था और खतरा भी नही। क्योंकि उनमें बहुत-से कवियों के अपने लाए हुए श्रोता थे। पहले ही कवियो ने 'हाँ' करवा ली थी न, कि मेरे इतने श्रोताओ को फ्री नही घुमने दिया गया, तो मेरी जूती और ' और कुछ नही, समस्या का हल तो निमन्त्रण में ही छपवा दिया था। सो हमने सयानो की तरह मुस्कुराकर 'हाँ' कर दी थी।

"सो कवि सब अपनी जिम्मेदारी लेकर आए थे, सँभाल ले गये अपने-अपने बरसाती नाले को, वरना बीच-बीच में तो ऐसे मँझधारी मौके आए कि लगा, बस डूबे भाई जान रचना-शिविर-समेत ' और ऐसे समय तो लगता है, जैसे भगवान भी हूटरो के साथ है। कवि की कोई सुनवायी हीं नही लेकिन संकट टल गया, रचना-शिविर बच गया'' हम भी बच गये''' बच गये आह ' इस चोट और पीडा को झेलने के लिए'' हाय ! उपद्रवियो ने कही का नही छोडा'''।"

नेपथ्य मे करुण संगीत फिर उभरता है—पितामह पुनः जोर से कराहते हुए व्यथित स्वर मे गाते है ''याद न जाये हाऽऽऽये बीते दिनो की '।"

हाहाकार से परिपूर्ण उद्घोषक का स्वर उभरता है''

" और फिर आयी वह नाट्य तत्त्व वाली कयामती शाम' आगे का हाल, स्वयं अमुकजी" "बड़े परिश्रम और चतुराई से महापण्डित वयोवृद्ध नाट्यशास्त्री श्री अमुकजी को फाँसकर 'अनावरण' के लिए लाया था''' जिससे अतिवृद्ध होने के कारण वे किसी तरह अनावरण और उद्घाटन-भर ही करें—बोलें न कुछ—बोलने वालों के साथ बड़ा खतरा रहता है—वे अनावरण की आड में बोलते चले जाते हैं। पर नाट्यशास्त्रीजी पक्षाघात के शिकार थे, सो इनके बोलने का खतरा नही था। अतः बोलने का काम

मेरा था, सिर्फ स्वागत-भाषण देना था। पर माला ही नहीं आ पायी थी न समय पर, सो मधुसूदन आकर कानों के पास फुसफुसाया था, 'माला नहीं आयी अभी तक—बोलते जाइए···।'

"सो बोलता रहा—पाँच मिनट बाद फिर फुसफुसाया, मधुसूदन ही—'समोसे नहीं मिले, दालमोठ मँगवा ली जाए ?'··

"माला तब भी नहीं आयी थी—मरता क्या न करता ! मैं बोलता गया···क्या बोला, इसका होश नहीं। होश तो तब आया, जब उसकी फाख्ताएँ उड़ने वाली थीं।"

उद्‌घोषक—

"माहौल की सनसनी बढ़ती जा रही थी···दर्शकों की बेसब्री के साथ।" अमुकजी—" 'एक और महाभारत' के मंचन का समय कब का हो चुका था। हम निर्धारित समय-तालिका से कुल ढाई घण्टे पीछे छूट गए थे। लेकिन अभी तो शत-प्रतिशत वक्ता ही अपने-अपने नाट्य तत्त्वों का सार-तत्त्व लिये घड़ी देखकर बराबर-बराबर समय तक बोलने पर उतारू थे··· वे अपने लेखों में पहले नाटक शुरू नहीं करने दे रहे थे—दर्शक, श्रोता 'महाभारत' छोड़ कुछ और देखने-सुनने को तैयार ही नहीं—समस्या ने जड़ पकड़ी।"

"हम क्या करते···न कुएँ में कूदते बनता था, न खाई में फिसलते। सो दोनों वर्गों को छुट्टा छोड दिया। एक पक्ष स्टेज के एक कोने में माइक खींच लाया और धाराप्रवाह नाट्य तत्त्वों का पथराव करने लगा। बोलने वाला कागज मोड़कर वापस जाये, इससे पहले ही दूसरा आ जमता।"

उद्‌घोषक—

"तब दर्शक ही क्या कच्ची गोली खेले थे ? पुकार हुई ! रंगपुते अभिनेता मंच पर उतर आये। ले महाभारत, तो दे महाभारत ! श्रोता और नाट्यतत्त्व के वक्ता एक ओर तथा दर्शक और 'महाभारत' के पात्र, भीमादि दूसरी ओर·· परिणामतः 'एक और महाभारत' की जगह दो-दो और 'महाभारत' रचना-शिविर में छिड़ गये थे·· युगलबन्दी जम रही थी, लेकिन सृष्टि का नियम है कि जो जन्मता है, मरता भी है। उसी प्रकार जो जमता है, उखड़ता भी है। स्थिति यह हो गयी कि मंच के कलाकार उखड़कर हॉल

में और हॉल के दर्शक उखड़कर मंच पर पहुँच गये।"

पितामह कूल्हे का घाव सहलाते हुए पुनः करुण संगीत के बीच से कराहते हैं—"आह, वह दृश्य भूल नहीं सकता" भूल नहीं सकता—'नाट्य-तत्त्व' का वेंच के बीच से क्रुद्ध-स्वर में चीखना तथा 'मंच-समस्या' का पंडाल के चोर दरवाजे से भागने की असफल कोशिश करना"महामन्त्रीजी का उचककर मंच की रस्सी के सहारे खिडकी से कूद जाना तथा मेरा अर्थात् रचना-शिविर के आदि-संयोजक का 'नाट्यतत्त्व' के बीच छिड़ गये इस महाभारत का भीष्म पितामह बनने को मजबूर हो जाना। कैसी लाचारी है · कैसी मजबूरी"कि हाय-हाय ये मजबूरी"सारे कृतघ्न चले गये—समोसे, दालमोठ खाकर, कुर्सियों के हत्थे उखाड़कर—समूचा रचना-शिविर उजाडकर · रह गया मैं · कूल्हे में लगे घावों को सहलाता"विसूरता · "

उद्घोषक (बात काटकर)—"और मैं भी तो ! इस समूची उठा-पटक का तटस्थ द्रष्टा मात्र "!"

▭

अथ मरणोपरांत

पूज्यवर ! आपके मरणोपरान्त हुई शोक-सभा के कुछ मार्मिक उद्धरण प्रस्तुत कर रही हूँ, चूँकि 'नैनं छिदन्ति शस्त्राणि · ' के आधार पर और वैसे भी अपनी पूर्व-प्रकृतिवश, आप वेताल योनि मे यही-कहीं विराजमान होंगे, अत· पढने का ब्योंत बैठा ही लेंगे।

वक्ता नम्बर एक, तर्ज—क्या भूलूँ, क्या याद करूँ—'अगर मैं भूल नही रहा (क्योंकि मुझे सब-कुछ याद है) तो इस शहर में होने वाली पहली गोष्ठी है जिसे उखाड़ने के लिए आज 'वे' हमारे बीच नहीं है और न भविष्य में रहेंगे।' (तालियाँ बजाने के लिए अभ्यस्त हाथ उठते-उठते ही गिर गये) उनका गला भर आया।

उसे सम्भावित रास्तों से खाली करते हुए उन्होंने आगे कहा, 'आज वे गोष्ठियाँ बारम्बार याद आ रही हैं जिन्हें पहले वक्तव्य के साथ ही वे उखाड़ दिया करते थे'' मैंने जब भी कोई गोष्ठी आयोजित की, बुलाऊँ या न बुलाऊँ, ऐन मौके पर पहुँच जाते थे। ऐसे अनौपचारिक किस्म के व्यक्ति थे वे।···

'इधर पहला लेखक अपना वक्तव्य पढ़ना शुरू करता, उधर वे आपत्तियाँ उठानी शुरू कर देते। आपत्तियाँ उठ जाती तो नयी-नयी चर्चित कथाकृतियों में प्रयुक्त गालियों के उद्धरण प्रस्तुत करने लगते। इस समय उनके सामने सब बराबर होते। बगैर भेदभाव का रुख अपनाये जिसे जो जी में आता कह देते। 'पल मे परलय होयगी बहुरि कहैगो कब्ब'' ।' वही हुआ। परलय हो गयी ! मेरा यार चला गया ! यह भी न सोचा कि आने वाली चर्चित कृतियों की गालियों का व्यवहारोद्घाटन कौन करेगा ?

'सारा जीवन साहित्य के पुनरुद्धार में लगाया और अन्त-समय मे भूल गया। दो-चार साल और रुक गया होता तो अपनी भाषा के पास उच्चस्तर

की गालियों का खासा संग्रह हो गया होता। साहित्यिकों के लिए एक-दूसरे को देने लायक कुछ गालियाँ होती, अच्छी-अच्छी, पर अब पछताये होत क्या ! चिड़िया उड़ गयी दोस्तो'' उड़ गयी चिड़िया !'

वक्ता नम्बर एक ढाड़ें मार-मारकर रोने लगे तो प्रस्ताव नम्बर दो पारित होने के लिए आगे आये। आवाज काँप रही थी—'अभी भी विश्वास नही होता कि वे इस गोष्ठी मे उपस्थित नहीं हैं। बस यही लगता है, अभी किसी कोने मे उठेंगे और मुझे खदेड़ देंगे। मुझे उन सभी गोष्ठियों में पहले उपस्थित रहने और बाद मे खदेड़े जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अब तो बस यादें-भर शेष हैं'''

'मुँह से चाहे जो कह लें पर दिल के साफ थे। जब, जो चाहे कहला लो, जब, जो चाहे लिखवा लो। ऐसी नर्म दिल तबीयत के थे। सबकी बात रखते थे। अकसर एक ही व्यक्ति, एक ही कृति के लिए दो बार दोतरफी बात कह जाते थे। हंगामा मचता था, मुसीबत मे फँसते थे। पर कभी हिम्मत नहीं हारी। धड़ाधड़ पत्रिकाओं मे खेद-प्रकाश के वक्तव्य छपाकर क्षमा माँग लेते। यही तो एक सच्चे साहित्यिक को चाहिए'''!'

सच्चे साहित्यिक वाली बात पर 'दीवाना' के सम्पादक बिलख पड़े, 'वैसा निश्छल लेखक मैंने आज तक नहीं देखा। 'दीवाना' को तो उन्होंने सदा अपना पत्र माना। कभी कोई दुराव रखा ही नहीं। तुक का, बेतुक का, जब भी कुछ लिखते, सीधे 'दीवाना' के कार्यालय में आ जाते। कहते —गुरु ! और मेरे पास है ही क्या जो 'दीवाना' को समर्पित करूँ ! कृष्ण ने विदुर के घर साग खाया था। तुम्हें भी मेरा घास-कचरा चरना पड़ेगा। रचनाओं का स्तर देखोगे या मेरा प्रेम ? ' मै हार जाता। कभी-कभी मूड में होते तो गाते, **'जाऊँ कहाँ तजि चरन तिहारे** ' यह गीत उन्हे विशेष प्रिय था।"

कई साथी लेखकों, समीक्षकों ने एक स्वर से स्वीकार किया कि उन जैसा समर्पित साहित्यकार इस पीढ़ी मे दूसरा न पैदा हुआ, न दिवंगत हुआ। घर में भूँजी भाँग न होती, बीवी-बच्चे दाने-दाने को तरसते होते, धोबी, ग्वाला, किरानी बाहर खड़े दाँत किचकिचाते रहते, साराश यह कि थुक्का-फजीहत की नौबत आ जाती, पर वे जल में कमलवत् छपने-छापने का स्रोत बिठाते रहते।

ऐसा निश्चिन्त और विन्दास था उनका व्यक्तित्व। जिससे खुश होते, सब-कुछ दे डालने की नीयत रखते थे, लेकिन खुदा के बन्दे के पास होता ही नहीं था न कुछ! कैसे देता? कभी कुछ हाथ में आता भी तो खा-खिला, पी-पिला जाते। खाली हाथ आना, खाली हाथ जाना। अपना पराया तो मेरे यार ने जाना ही नहीं। बीवी-बच्चे तक, जैसे अपने, वैसे दूसरो के, कोई नहीं है गैर बाबा, कोई नही है गैर···

घर के किसी काम, किसी तलाश में निकलिए, वे लता मंगेशकर और आशा भोंसले के गीतों की तरह राह में खड़े रहते थे, साथ हो लेते थे। और साथ तब तक नही छोड़ते थे, जब तक घर आकर बाथरूम में न घुस जाइए।

सड़क-फुटपाथ से लेकर चाय-कॉफी के स्टाल तक हर कहीं आबाद रहते थे। किसी ने एक प्याली चाय, दो आलू चॉप खिला दिए, भगवान् भगत के बस मे हो गए। अब क्या पराया क्या अपना—जिसे कहो हूट करवा देंगे, जिसे कहो अध्यक्ष बनवाने के लिए हाथ उठा देंगे। ऐसा मनमौजी था मेरा यार!

आज हर छोले-भटूरे, दही-पकौड़े वाले की आँखों मे आँसू है, दर्द के आंसू जाने कितनों की उधारी बकाया कर सबको बिलखता छोड गए·· हाय छोड़ गए·· कइयों ने आँखों पर रूमाल रखकर सिसकते हुए कहा—उन्हे याद कहाँ रहता था, इतने फक्कड़-भुलक्कड़ साधु किस्म के थे। भुलक्कड़ी पर कितनी यादें ताजी हो आयी कि हमेशा की तरह कॉफी हाउस में आये एक दिन; सबके हालचाल पूछे। फिर जाने क्या जोश आया कि सबके लिए कॉफी के साथ ऑमलेट का भी ऑर्डर दे दिया।

विरोधी गुट वाले दूसरी टेबिल पर बैठे थे, उन्हे भी बुला लिया। खैर साहब, सब जुट आये, अपनी तीन नयी कविताएँ—'चाँदनी, चाँद का पसीना', 'उबले अण्डे' और 'माटी के लोंदे' सुनायी। लोग आमलेट खाते जाते, वाह-वाह करते जाते। उसी वाह-वाही के बीच सबका साधुवाद चटोरते, हाथ हिलाते, 'जरा दो मिनट को···' कहकर विनम्र भाव से मुस्कराते हुए उठे और जो 'बाथरूम' गये हैं तो आज तक नही लौटे·· और अब क्या लौटेंगे! उस दिन, जिन-जिन ने ऑमलेट खाया था, सबकी आँखो

मे आँसू थे 'उक्त कॉफी हाउस के मालिक को तो बड़ी मुश्किल से समझा-बुझाकर चुपाया गया।

इतने शोक-प्रस्तावो के पारित होते-होते जो निष्कर्ष निकला, उसका साराश यह था—**निष्कर्ष नंबर एक :** वे किसी के भी साथ हो लेते थे, गन्दे-से-गन्दे कपड़ों में बाहर निकल पडते थे, घटिया-से-घटिया स्तर की पिक्चरें देख डालते थे, किसी को भी, कभी भी, कुछ भी कह डालते थे—अतः महान् थे। **निष्कर्ष नम्बर दो :** जितने लोग उक्त शोक-सभा मे उपस्थित थे उनमें किसी को भी नही मालूम था कि वे इतनी जल्दी मरणोपरान्त होने वाले हैं अन्यथा वे लोग पता नहीं क्या करते। शायद इस तरह हाथ मल-मलकर न पछताते। अन्त मे ईश्वर ऐसे खुले दिल, खुले मुँह वाले की आत्मा को शान्ति प्रदान करे, ऐसी प्रार्थना के साथ शोकसभा समाप्त हुई।

तुलना—कलियुगी और सतयुगी वोटरों की

सतयुग को सतयुग ऐसे ही नहीं कह दिया जाता, उसके कारण थे। और क्या, कारण न होते तो हम आज कलियुग को सतयुग न कह देते? लेकिन नहीं कह सकते, क्योंकि इसके भी कारण है।

तो सतयुग को सतयुग कहने का सबसे बड़ा कारण यह था कि सतयुग वोटरों का युग था, कैंडीडेटों का नहीं। सतयुग मे चुनावों के चलने और चुनावों के बाद भी, हमेशा वोटरों की चलती थी। कैंडीडेट हमेशा डरे, सहमे और आतंकित रहा करते थे कि कहीं कुछ ऊँचा-नीचा न हो जाये जो वोटरों को नाराज कर दे। वोटर दिन कहते थे तो दिन, रात कहते थे तो रात। सारांश में, जो-जो पापड़ बेलवाते, कैंडीडेट हँसी-खुशी बेलते। यही वजह है जो सतयुग के कैंडीडेटों की कुर्सी आज तक सही-सलामत है। (यहाँ सतयुग से हमारा तात्पर्य कलियुग को छोड़कर बाकी सभी युगों से है।)

अब देखिए कैंडिडेट नंबर एक—कृष्णचद्र यादव, जो हर चुनावी अभियान में अपने निकटतम प्रतिद्वंद्वी को हराकर हमेशा भारी मतों से विजयी हुए। और होते भी क्यों न? कभी अपने को जनाया-जताया नहीं; चुनावों के पहले भी ढोर-डंगर चराते, चुनावो के बाद भी। खानदानी का काम कभी नहीं छोड़ा, फिर भी घाघ किस्म के वोटर पर चौकन्नी नजर और चौकसी रखते थे। कोई लल्लो-चप्पो नहीं। यही कृष्णचन्द्र एक बार विदुर नाम के वोटर के घर पहुँच गए थे। घर में शायद कुछ और नहीं था या कौन जाने रहा हो, सिर्फ दिखाने के या आजमाने के लिए आराम से पीतल के कटोरे विच सरसों दा साग परोस दिया—'लो, खाओ! जो सारी कॉन्स्टीट्यूएंसी को खिलाते हो, वही तुम भी खाओ। तुम्हें मालपुए थोड़ी मिलेंगे। और नहीं खाओगे तो हश्र क्या होगा, जानते हो? चुनाव हारोगे।'

कुछ चालाक वोटर तो अच्छा खाने-पहनने को मिलने पर भी हमेशा यही रोना रोते रहते थे कि हम दीन-हीन अकिंचन, भिखारी हैं, अनाथ हैं—हमारी अमेठी के भाग्य कब खुलेंगे? और उन युगों के प्रत्याशी पांव-पियादे, हाल-बेहाल भागकर आते थे, एक आर्त्तपुकार पर—अब की तरह नहीं कि जब तक प्रधानमन्त्री की सरप्राइज-विजिट न हो—पुकारता चला हूँ मैं गली-गली—गाते रहो। बड़े निश्चित, निर्द्वंद्व रहा करते थे, उन दिनों वोटर।

कथा है कि एक महिला वोटर तो अपने इन्हीं चुनाव-प्रत्याशी को देखकर ऐसी विह्वल हुई कि खुद सारे पके केले खाती गई और उन्हें केले के छिलके खिलाती गई। भगवान जाने इसमें कितना सच है—कितनी भक्ति-विह्वलता, कितना त्रिया-चरित्र। लेकिन सुनने में यही आता है कि कृष्ण खाते भी गए। अब वे खाते न तो क्या करते! इमेज का सवाल था। और इमेज रंग लाई। चन्द केले के छिलकों ने उन्हें भारी मतों से विजयी करा दिया।

कृष्ण को वैसे भी चुनावों में कुछ खास परेशानी नहीं उठानी होती थी। स्त्रियों के सारे वोट पहले से ही उनके लिए रिजर्व रहते थे। एक तो संगीत-कला इत्यादि में प्रवीण थे, दूसरे विमेन-लिब आन्दोलन के सक्रिय कार्यकर्ता। कुल मिलाकर प्राचीन काल में आधुनिक विचारधारा के प्रबल समर्थक। वक्त की नब्ज टटोले रहते थे। उस जमाने में इतनी स्त्रियों का एक-साथ विश्वास जीतना कोई हँसी-खेल नहीं था। कृष्ण ने यह जीत लिया था। इसी से चुनाव भी जीते थे और सारे समय चैन की बंसी बजाते रहते थे।

कैंडीडेट नंबर दो—राम रघुवंशी। इनकी शुरुआत अच्छी थी, अमिताभ बच्चन की तरह छोटे भाई और पत्नी-सहित चुनाव-अभियान पर निकलते थे—दूर-दराज के गांवों तक। सीता जयाभादुड़ी की तरह सिर पर पल्ला खींच सकुचा जाया करती। बस भारतीय संस्कृति पर दिलोजान से फिदा वोटर आँख मूँदकर वोट डाल जाया करते। राम की सबसे बड़ी ट्रिक यह थी कि साम्प्रदायिकता पर भाषण नहीं, डिमॉन्सट्रेशन करते चलते थे। जो मिला उसी से हुचककर गले मिल गए। अब कहने को क्या और सुनने को क्या, वोटर निहाल हो गए। राम के साथ दूसरी बात यह भी अच्छी थी कि इनका कोई वचत-खाते वगैरह का कोई घपला न था, न अपने नाम से,

न भाई-भतीजों के नाम से।

फिर भी चालाक वोटरो ने बड़े-बड़े षड्यन्त्र रचे। शबरी को फाँसा कि केवल गले लगने से नही चलेगा—जूठे बेर खाकर दिखाये—बच्चू बड़े भेदभाव के विरोधी बनते हैं! लेकिन राम बाजी मार ले गए। कैसे क्या चाल चली, ये तो राम ही जाने, पर विरोधी पक्ष ताकता ही रह गया। इस तरह पिछड़ी और परिगणित जातियों के वोट हमेशा विश्वास में रहे राम के। लेकिन महिलाओं के मामले में कई गलतियाँ और चूकें हो गईं उनसे। सबसे भयंकर भूल जो उन्होंने की, वह थी शूर्पनखा के नाक-कान कटवाने की। महिलाओं के सारे वोट उसी समय से इनके खिलाफ हो गए थे। ताड़का-वध की बात ठण्डी पड़ते-न-पड़ते यह 'एडवेंचर' कर बैठे। वही, वक्त की नब्ज टटोलने में गड़बड़ा गए। ऊपर से ब्लण्डर कर दिया सीता को निष्कासन देकर। इससे अहिल्या-उद्धार वाली घटना ओवरशैडो हो गई। राम थोड़े ओवर-कॉन्फिडेण्ट भी थे। कायदे से धोबी ने लांछन राम पर लगाया था। उन्हें, कुर्सी छोड़नी थी, सीता नही। पर कुर्सी का मोह होता ही ऐसा है। राम भी चूक गए। सीता छोड़ दी, कुर्सी नहीं छोड़ी। नही तो इमेज क्लीन-की-क्लीन रह जाती। किन्तु राजनीति के इस धोबी घाट पर पछाड़ खा गए।

गणपति गणेशजी आकार-प्रकार और भोजन-रुचियो को देखते हुए स्पष्टतः ब्राह्मणों के प्रत्याशी लगते हैं। उनके बारे में प्रसिद्ध है कि वे खाते बहुत थे, लेकिन साथ ही यह भी प्रसिद्ध है कि वे आजकल के नेताओं की तरह जनता का नही खाते थे, अपने घर का और अपनी जरूरत-भर ही खाते थे।

कहा जाता है कि एक बार एक गरीब बुढ़िया ने कुढ़कर 'टिट फॉर टैट' के सिद्धान्त पर, गणेश चौथ यानी उनके 'फेलासिटेशन' के अवसर पर उन्हें बालू की पिंडियाँ परोस दी कि लो महाराज, जैसा करते हो, वैसा भरो। अब मेरे पास पैसे नहीं तो मेवे-गुड़ की पिंडियाँ कहाँ से परोसूँ? यही आलू उदरस्थ करो, और फिर तुम भी मजे लो कि हम कैसे जीते हैं! लेकिन साहब, प्रत्यक्षदर्शियों का कहना है कि गणेशजी ने खाया और खाकर शाप देने के बदले उसे सोने, चाँदी, हीरे-मोतियों से भर दिया। अब बताइये,

है कोई आज-दिन ऐसा हठी वोटर और दरियादिल कैंडीडेट ? उन्हें कौन समझाये कि सिर्फ बड़ी तोंद से कोई कैंडीडेट बड़ा नहीं बनता, उसके लिए बड़ा दिल भी चाहिए !

शिवशंकर के बारे मे अनेक भ्रान्तियाँ हैं। उनका चुनावी अभियान खासा विचित्र हुआ करता था। कुछ लोगों का मानना है कि उनकी मत-पेटी मे सारे वोट आतक और दहशत की वजह से पडते थे। उनके 'कोउ मुखहीन विपुल मुख काहू' जैसे चुनाव-प्रचारकों को देखते ही लोगों की घिग्घी बँध जाती थी और लोग आँखें मूँद, वोट डाल, गिरते-पड़ते अपने-अपने घरों को वापस भागते थे। लेकिन असली तथ्य यह है कि वोटर सिर्फ उनकी हुलिया देखकर ही डरते थे, वरना दिल-दिल मे उनका अदब और बेइतहा इज्जत करते थे। वे जानते थे कि ऊपर से शक्लसूरत चाहे जितनी भयावनी हो, लेकिन दिल के वह नेक और इन्साफपसन्द हैं। मस्तमौला और फक्कड इतने कि जनता की हालत की सही जानकारी हासिल करने के लिए मियाँ-बीवी भेष बदलकर समूची कॉन्स्टीट्यूएन्सी का चक्कर मारा करते हैं और सही मौके पर सही मदद मुहैय्या करते है।

इसीलिए कहते हैं न कि सतयुग का वोटर ज्यादा सयाना हुआ करता था। वह ऊपरी बकुलपखी लिबास और चिकनी-चुपडी बातो मे नहीं आया करता था। साथ ही जो एक कुर्सी से उतरा उसे दूसरी कुर्सी पर बिठाने की गलती भी वह कभी नही करता था। वह उम्मीदवारो को एक दल से दूसरे दल में सेंध मारने की इजाजत भी नही दिया करता था।

उन दिनों शक्ति वोटरो के हाथ में थी। इसीलिए राष्ट्रपति-शासन की नौबत नहीं आने पाती थी। ▭

मेरा क्रिकेट-प्रेम

देखिए, इतना तो आपको भी मालूम है और मुझे भी कि क्रिकेट पर मेरा इटरव्यू लेने किमी ने आना-वाना नहीं। लेकिन 'डेस्परेट' व्यक्ति क्या नही करता ! तो 'डेस्परेशन' की मारी मैंने खुद ही अपना इटरव्यू दे डाला है। लेकिन जहाँ तक प्रश्नोतर का मामला है, बेईमानी राई-रत्ती नही। प्रश्न ठीक वैसे ही चुने हुए वेतुके है जैसे आमतौर पर पूछे जाते है और जिनका उत्तर प्रश्नकर्त्ता को क्या, सारी दुनिया को मालूम रहता है। तो यह सीधे-सीधे एक ईमानदार प्रयोग-भर है। लेकिन इतना समझ लीजिए कि यह प्रयोग ढेर-के-ढेर टीवी, रेडियो और पत्र-पत्रिकाओं के एक्सक्लूसिव इंटरव्यूओं को पढ़ने-सुनने और खाक समझ में न आने के बाद ही किया गया है तो 'कन्फेशन' समाप्त और मुलाहिजा हो, पहला सवाल—

'सूर्यबाला जी ! जैसा कि आप जानती है और आप ही क्या, देश का बच्चा-बच्चा और मेरा खयाल है कि बड़े-बूढ़े तक जानते है और मै समझती हूँ कि वे महसूस भी करते होंगे कि क्रिकेट इस देश का, यानी हमारे हिंदुस्तान का बल्कि यो कहे कि यहाँ के रहने वालो की जिन्दगी का एक बुनियादी हिस्सा या कहे कि एक खास अग बन चुका है'''तो इसके बारे मे आपकी क्या राय है, यह मैं जानना चाहूँगी।'

'बड़ा ही सुन्दर प्रश्न पूछा है आपने, सूर्यबाला जी ! तो पहले तो इतना अहम सवाल उठाने के लिए मेरी बधाई लीजिए, आपका यह प्रश्न बड़ा समय-सापेक्ष है। इसका हमारी रोजमर्रा की जिन्दगी से बड़ा नजदीकी रिश्ता बनता है। और मैं समझती हूँ कि यह बडी शुभ बात है कि किसी चीज का किसी चीज के साथ नजदीकी रिश्ता कायम हो जाए। तो जवाब मे इतना ही कहूँगी, जैसा कि आपके खुद कहा है, जो कि आप समझती भी हैं तो मेरा भी यही मानना है कि इस देश के हर तबके यानी समझिए कि

बच्चे-बच्चे, बूढ़े-बूढ़े, जवान-जवान तक की जिन्दगी का क्रिकेट एक निहायत जरूरी हिस्सा या कहें कि उसके जीने की शर्त बन चुका है। वह यों समझिये कि क्रिकेट तो इस देश के कण-कण में समाया हुआ है और मेरा तो खयाल है, मैं समझती हूँ कि आपका भी होगा कि क्रिकेट के बिना तो इस देश की कल्पना ही नहीं की जा सकती।'

'बहुत सुन्दर ! क्या बात कही है आपने सूर्यबाला जी··· ! अच्छा तो अब एक बात बताइये मुझे। क्या आपके पति यानी हसबैंड और बच्चे यानी कि चिल्ड्रेन भी क्रिकेट में उतना ही इंटरेस्ट यानी रुचि लेते हैं ? तो उनके बारे में जरा·· '

'अरे लीजिए, यह भी कोई पूछने की बात है ? मेरी फेमिली यानी कि परिवार को तो क्रिकेट से बेइंतहा प्यार यानी कि लगाव है। मेरी दोनों लड़कियाँ तो रवि शास्त्री और अजहरुद्दीन पर जान छिड़कती हैं। वो कहेंगी मेरा रवि शास्त्री तो वो कहेंगी मेरा अजरू·· अब आप समझिए कि पिछले एक मैच में जब शास्त्री की सेंचुरी एक-एक रन के लिए एक-एक घंटे इंतजार करती रही तो मेरी बड़ी वाली तो खुदकशी पर आमादा हो गई। बड़ी मुश्किल से समझाया-बुझाया कि तू कैसी फैन है, जो इस आड़े वक्त उसका साथ छोड़ रही है ? तब कहीं जाकर मानी।'

'हाउ स्वीट···! अच्छा, आपके हसबैंड यानी पति ?'

'उनकी हालत तो इससे भी बदतर समझ लीजिए।'

'मतलब ?'

'मतलब उनकी मुखमुद्रा तो खुदकशी से भी एक बालिश्त ऊपर, मर्डर वाली हो जाती है।'

'ऐसा ?'

'जी हाँ ऐसा, उस समय तो यही लगता है कि बड़ा अच्छा हुआ जो यह स्टेडियम में नहीं हैं वरना बल्लेबाज से ज्यादा आक्रामक इनकी भावभंगिमा और कह लीजिए कि हरकतें देखकर ही खिलाड़ी मैदान छोड़ आउट हो जाते। सच पूछिए तो मैं अपने पति जैसे दर्शकों को स्टेडियम में जाने देने के पक्ष में हूँ ही नहीं। *ऐसे लोगों और खिलाड़ियों के हक में यही अच्छा होगा* कि वे क्रिकेट का दूरदर्शन ही करें।'

'अच्छा'' खैर, यह स्थिति तो तब आती है जब रन ही नही बन रहे होते ना, यानी कि खिलाड़ी पूरी खेल-भावना के तहत खेल रहे होते है; पर अदरवाइज ?'

'अदरवाइज तो खुशमिजाजी ही कायम रहती है खेल के दौरान, बल्कि मैं तो कहूँगी कि मैं क्रिकेट की बहोत-बहोत शुक्रगुजार हूँ, क्योंकि क्रिकेट की वजह से ही मेरे पति अब सुबह उठने लग पड़े हैं और चूँकि अब तो साल के ज्यादा-से-ज्यादा दिनों कोई-न-कोई मैच कहीं-न-कहीं चलता ही रहता है और कमेंटरी सुबह-सवेरे से चालू हो जाती है, तो क्या बात है ! ये अलस्सुबह ही नहा-धो, फ्रेश हो, मुस्कराते हुए टीवी के सामने बैठ जाते हैं, जिससे पूरा दिन कोई खलल न पडे। समझ लीजिए, उन दिनो हमारे घर का पूरा कार्यक्रम क्रिकेट के हिसाब से ही परिचालित होता है। उधर लंच, तो इधर लंच, उधर टी तो इधर टी।'

'अच्छा ! तब तो बडी शांति रहती होगी घर मे ?'

'जी हाँ, और खासकर उस घर मे जहाँ ज्यादातर कयामत के बादल मँडराया करते हैं, क्रिकेट एक खुशगवार मौसम मुहैया करता है, अमन-चैन भरा। उधर खिलाडी मैदान में इकट्ठे भी नही हुए होते कि हम सब टीवी के सामने इकट्ठे होने शुरू हो जाते हैं।'

'अगर मैं गलती नही कर रही हूँ और अगर मैंने ठीक सुना है तो अभी-अभी आपने 'हम सब' कहा, तो इसके मायने कि क्या आप भी क्रिकेट देखने और सुनने में उतनी ही'''

'जी हाँ, आपने बिलकुल सही सुना है। मैं तो इस मामले मे पुरुष-क्रिकेट-दर्शक और महिला-क्रिकेट-दर्शक के बीच किसी प्रकार के भेदभाव को मानती ही नही और मेरा तो यह मानना है कि आज के इस युग में जब स्त्री अपनी एक स्वतन्त्र सत्ता साबित करा चुकी है और समाज के हर क्षेत्र मे पुरुष के कंधे-से-कंधा भिडाकर आगे बढ़ रही है तो क्रिकेट के क्षेत्र में वह क्यों पिछडी रहे ?'

'बहुत खूब ! तो आप नियमित क्रिकेट के मैच देखती है ?'

'जी हाँ बिलकुल, अभी तो पिछले मैच देखने के दौरान ही मैंने दो स्वेटरो की डिजाइन उतारी और एक दर्शिका के सन-ग्लासेस तो मुझे इतने

पसन्द आये कि उसी शाम जिद करके पूरा बाजार छानकर खरीद लायी। यो साढे तीन सौ की चपत लग गई, लेकिन अब क्रिकेट-प्रेम का मूल्य तो चुकाना ही होगा।'

'वाह सूर्यबाला जी ! यानी क्रिकेट-प्रेम आपकी रुचियों, आपके व्यक्तित्व मे पूरी तरह घुसपैठ कर चुका है, ऐसा कहना चाहिए, क्यों ?'

'जी हां, मैंने तो अपने जीवन मे क्रिकेट मे बहुत-कुछ सीखा है। उस सीख का ही परिणाम है कि अभी तक हर मोर्चे पर मै 'नॉट आउट' ही रही हूँ। पति के नब्बे प्रतिशत बॉल 'नो बॉल' ही होकर वापस लौटे हैं। दस प्रतिशत रन जोडकर 'सेंचुरी' पॉट लेती हूँ। यह भी बता दूँ कि मुझे हर तरह की गेंदबाजी का अभ्यास है कि कब आक्रामक गेंदबाजी करनी है, कब स्पिन, कब गुगली; इस घर के पिच का मिजाज मेरी मुट्ठी मे रहता है। वह तो समझ लीजिए, सिर्फ खेल-भावना की कद्र करने के लिए ही कभी-कभी गेंद इनके पाले मे यह कहकर लुढका देती हूँ कि—ये तो मैं हारी पिया, हुई तेरी जीत रे···।'

'वाह, क्या बात है ! अच्छा, अब जरा परिवार की परिधि से निकलकर क्रिकेट को समाज और राष्ट्र के भी विस्तृत कैनवास पर देखा जाए, नहीं तो जैसा कि मैं समझती हूँ और आप भी जानती होंगी कि लोग फौरन···'

'जी हाँ, बिलकुल समझ गई मैं। यही कहेंगे न कि आखिर तो महिला दर्शक ठहरी न ! क्रिकेट को भी चूल्हे-चौके मे समेट ले गई। लगा गई चौका क्रिकेट मे भी। लेकिन जैसा कि आप जानती हैं, वैसा ही मै बताती हूँ कि क्रिकेट का धरातल तो आप समझिए कि बहुत व्यापक है। और आज के दिन तो हमारा देश एक महान् क्रिकेट-राष्ट्र के रूप मे आकार ले रहा है। मैं दावे के साथ कह सकती हूँ कि जो लोग आज देश को जगाने की क्रेडिट ले रहे है उन बेचारो को मालूम ही नहीं कि देश तो सुबह चार बजे का ही जग चुका था (जब इंग्लैंड या ऑस्ट्रेलिया मे टेस्ट मैच चल रहे थे) और जागकर मजे मे मैच देख रहा था। और ये लोग जु है क्या, अब चले हैं जगाने ! मेरा अनुभव तो कहता है कि देश के जितने बडे हिस्से को क्रिकेट जगाता है, कोई दूसरा नही जगा सकता और समझ लीजिए, इस देश की बेरोजगारी से लेकर मारामारी तक की समस्या जो कुछ सँभली हुई है, वह

क्रिकेट की वजह से ही। आज देश के हर बेरोजगार युवक को जितनी चिन्ता, जितना सरोकार गावसकर के शतक और कपिल की गेंदबाजी में है उतनी अपनी खस्ताहाली की नहीं। या यों कहें कि उस बेचारे को सोचने की फुर्सत कहाँ? उधर रोजगार-दफ्तर में अर्जी दी, इधर क्रिकेट मैच की कमेंटरी का अखण्ड-पाठ चालू। बस अपना सारा बोझ पैवेलियन में उतार चितामुक्त हो लेता है।'

'वाह! कमाल की बात कही है आपने तो सूर्यवाला जी! अच्छा, अब यह बताइए कि क्रिकेट को लेकर आपके दिल में इतना प्यार है, इतना लगाव है तो मैं यह जानना चाहती हूँ कि कोई चिन्ता भी है?'

'देखिए, चिन्ता तो बस एक ही है कि कहीं क्रिकेट को कुछ हो गया तो इस देश का क्या होगा? ये लाखों-लाखों लोग जो सारे भेदभाव भूल, दीन-दुनिया बिसार, जुड़-मिलकर टीवी से लगे बैठे हैं, इनका क्या होगा? कहाँ जायेंगे ये लोग, झख मारने के लिए? कहाँ ढूंढेंगे अपने जीने का सहारा? आपको शायद एक बात नहीं मालूम कि क्रिकेट देखना हमारे राष्ट्रीय चरित्र के पूरी तरह अनुकूल पड़ता है। हाथ-पाँव हिलाने तक की कोई जरूरत नहीं। घर से बाहर जा, टिकट तक ब्लैक में लाने का लफड़ा नहीं। बस, बटन दबाया और मक्खियाँ उड़ाते सुनते रहो कि···'उन्होंने बैट को तेजी से घुमाया और बायाँ पैर जरा आगे लाये, दायें पैर को जरा पीछे ले गये और बॉल को हिट कर दिया और दौड़ लिये और आउट हो गये। अब दूसरे आये ··वे आ रहे हैं, उनके एक हाथ में बल्ला है और दूसरे हाथ से वे अपना दायाँ कान खुजा रहे हैं' और आपकी उत्तेजना क्रिकेट-खिलाड़ी के कान खुजाने का भरपूर आनन्द ले रही है।'

'बहुत खूब! क्या बात है! आपने तो पूरा पैवेलियन ही आँखों के सामने साकार कर दिया। अच्छा एक बात और···क्रिकेट की वर्तमान स्थिति, मेरा मतलब है आज के हालात···'

'बहुत अच्छे हैं जी हालात, मेरा मतलब है स्थिति। यह इसी से समझ लीजिए कि भारत कभी कृषि-प्रधान देश था, आज क्रिकेट-प्रधान देश है। आँकड़े बताते हैं कि अस्सी प्रतिशत जनता कृषि पर निर्भर है तो पच्चासी प्रतिशत क्रिकेट पर। लेकिन देश के इतने बड़े जनसमुदाय के अनुपात में

स्टेडियमों की संख्या बहुत नगण्य है। इसलिए देश-प्रेमियों और खेल-प्रेमियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट होना चाहिए कि जैसे पहले जमाने में कुएँ, तालाब खुदवाये जाते थे, उसी प्रकार स्टेडियम भी खुदवाये जायें। हमें गाँवों के विकास की ओर समुचित ध्यान देना है। यह तभी हो सकता है जब जगह-जगह खेत-खलिहानों को काटकर बीच में क्रिकेट के लिए स्टेडियम बनाये जायें, जिससे ग्रामवासियों को मैच देखने के लिए शहर तक आने की जहमत न उठानी पड़े। उनके पैसों और श्रम की बचत हो।'

'वाह ! बड़े बहुमूल्य सुझाव दिये है आपने ! अच्छा, भविष्य कैसा दिख रहा है आपको ''और इस देश को क्रिकेट की देन के भी बारे में कुछ।'

'भविष्य तो वर्तमान से ही निर्धारित होता है जी ! तो मैं तो साफ देख रही हूँ कि इस देश की परम्परा बड़ी तेजी से क्रिकेट की गेंद के रूप में भविष्य की ढलान पर लुढक रही है। विश्वास है कि आने वाली पीढ़ियाँ उसे और आगे ही लुढकायेंगी। दूसरी तरफ जनता भी कवियों को हूट करते-करते तग आ चुकी थी तो क्रिकेट ने इस तंग आयी जनता में नया उत्साह जगाया। हूटरों की एक नयी जागरूक पीढ़ी दी, हमारे देश को। इतना समझ लीजिए कि साहित्य को जितने व्यंग्य-लेख क्रिकेट ने दिये, किसी और विषयवस्तु ने नहीं, पत्रिकाओं को जितने विशेषांक क्रिकेट ने दिये, किसी और खेल ने नहीं।"

'धन्यवाद और बहुत-बहुत आभार ! अच्छा, और कोई सन्देश ?'

'सन्देश क्या, सूचना समझिए—बस, यही कहना है कि इस देश को, इस देश के समाज और साहित्य को और भी बहुत-कुछ दिया है क्रिकेट ने जो किसी और विशेषांक में, किसी अन्य व्यंग्यकार द्वारा प्रस्तुत किया जायेगा।'

आत्मकथा हिन्दी फिल्म के पिताओं की…

मैं पिता हूँ, हिन्दी फिल्मों वाला। मेरा जन्म कब हुआ, मुझे ठीक-ठीक पता नही। बस, इतना जानता हूँ कि सिचुएशन की माँग और हीरो के मूड के हिसाब से जब जैसी जरूरत पड़ती है, हीरो का एक अदद पिता यानी कि बाप पैदा कर दिया जाता है। मैं भी इसी आवश्यकता की उपज हूँ।

पूरी-की-पूरी हिन्दी फिल्म में सबसे दयनीय पात्र मैं ही हूँ। मुझसे ज्यादा दयनीय सिर्फ कामेडियन होता है। लेकिन उसको भी रोमांस करने और हाथ, पाँव, कूल्हे मटकाने आदि की छूट तो रहती ही है। ज्यादातर करके उसे छोकरी भी मिलती है। लेकिन हम पिताओं के हालात तो वास्तविक जीवन के घर-परिवारों के पिताओं से कही ज्यादा बदतर होते हैं। हिन्दुस्तानी फिल्म मे जितनी बंदिशें, जितनी रोकथाम हमारी गतिविधियो पर होती है, और किसी पात्र की नही। खलनायक तक सारी फिल्म में मुट्ठियाँ भीचे, घूँसे ताने मुस्टंड घूमते रहते हैं। जिसे चाहे उसे छेड़ते; मटरगश्ती करते, तीन घंटे गुजार देते है। अन्त तक पहुँचते-पहुँचते जरूर दो-चार हाथ खाने पड़ते हैं, तो उससे क्या? तीन घंटे तो चैन से कटती है! लेकिन हम पिताओं को तो हिन्दी फिल्मों में कभी तीन घंटे की पूरी उम्र मिली ही नही। चाहे कितना ही हाथ-पाँव मारो, इंटरवल तक आते-आते हार्ट अटैक के हवाले कर दिये जाते है। उसमे किसी तरह बच गये तो डायरेक्टर चुपचाप इशारा कर देगे, सीढ़ियों से लुढ़का दिये जाने के लिए। हम फिल्मी पिता हर रोज शूटिंग पर जाते समय डरते है कि कही डायरेक्टर आज ही रोल आधा काटकर नेपथ्य से इशारा न कर दे कि बस यही लुढ़क जाओ गोल सीढ़ियों से! मुझे लगता है कि फिल्म की कहानी, स्क्रिप्ट, पटकथा आदि फिल्मी पिता को सोचकर तैयार किये जाते हैं या नही, कहना मुश्किल है, लेकिन हर फिल्म की सीढ़ियाँ जरूर पिता को ही ध्यान मे

का अर्थ है अपने पेट पर लात मारना। फिर भी डाइरेक्टर से यह पूछने की इच्छा कई बार हुई कि भैया जी, इस नमूने की औरत आपको असल जीवन में कहीं दिखती भी है जिसमें एक-से-एक नायाब ऐब कूट-कूटकर भरे होते हैं ?

लेकिन मुझे मालूम है, इस सवाल के जवाब में डाइरेक्टर साहब हमारे सामने फौरन इन बीवियों का विलोम-रूप प्रस्तुत कर देंगे। ऐसी साध्वी-पत्नी से भी पाला पड़ा है एकाध फिल्मों में जिनकी दिनचर्या नीम-अँधेरे, सुबह पांच बजे से ही शुरू हो जाती है। न खुद सोयेंगी, न पति को सोने देंगी। नहा-धो, चन्दन-अक्षत लिये पति के चरणस्पर्श के लिए हाजिर। उनका माथा बिल्कुल सिंदूरदान लगता है। उन्हें पति के जूतों से विशेष लगाव रहता है। अत: उनकी समुचित दिनचर्या के कवरेज का अस्सी प्रतिशत, उन्हीं जूतों को प्रेम से झाड़ने-पोंछने, पॉलिश करने, पति को पहनाने, उतारने और हर बार ऐसा करते समय चूमने में ही बीत जाता है। उनके हर सीन का प्रारम्भ और अन्त इसी से होता है। इस बहाने शायद वे यह दिखाना चाहती हैं कि तुमसे अच्छी तुम्हारी जूती; पर जो भी हो कुल मिलाकर जीना हराम हो जाता है। भाई साहब ! उस वक्त भी इन डाइरेक्टरों का कॉलर पकड़कर यही पूछने को दिल करता है कि यार, हमें सही किस्म की बीवियाँ कब प्रोवाइड करोगे ? और यह भी कि इस किस्म की पति के पैर की जूती की जूतीनुमा औरत का आइडिया उन्हें कहाँ से आया ?

बहरहाल हम फिल्मी पिता घुट रहे हैं। हर किस्म का शोषण हो रहा है। बेटा यानी कि हीरो तक हमारी लानत-मलामत करने से नहीं चूकता; और करे भी क्यों न ? ज्यादा करके तो हीरो या होरोइन में से एक मेरे नाजायज सन्तान होती है। फिल्म में इन नाजायज सन्तानों का अस्तित्व मेरे लिए कितना नागवार होता है, आप समझ ही सकते हैं। कितनी बार डाइरेक्टर साहब को समझाया कि भैया जी, यह कन्ट्रोवरसी क्यों दिखाते हैं ? दिवगत पत्नी के चित्र के सामने अगरबत्ती घुमवाने और खड़ताल-मजीरे बजवाने के बाद आप हमारी नाजायज सन्तानें दिखाकर, सब किये-कराये पर पानी फेर देते हो। लेकिन उन्हें इससे ज्यादा दिलफरेब सिचुएशन

रखकर बनायी जाती है, जिससे वह आसानी से लुढ़क सके।

और अब तो नयी फिल्मों के पिताओं को पहले-दूसरे सीन में ही विलेन के रिवॉल्वर से जिन्दाबाद हीरो का बाप मुर्दाबाद कर दिया जाता है। मानों कि पिता को पैदा होते देर नहीं कि मौत आ दबोचती है। समझ में नहीं आता, ऐसी असमय मृत्यु के शिकार पिताओं की एक यूनियन क्यों नहीं बनती कि 'हमारा शोषण बन्द हो, हम बेमौत नहीं मरेंगे'''।'

छोड़िये, नहीं भी मरेंगे तो कौन-सा किला फतह कर लेंगे हम ? वैसी हालत में एक अदद दुशाला और कुछ अदद अगरबत्तियाँ दी जाएँगी आपको बाकी धूप-दीप-नैवेद्य जैसी आपकी श्रद्धा'' लीजिए और दिवंगत फिल्मी पत्नी के चित्र पर घुमाते हुए जिन्दगी के डेढ़ घंटे गुजार जाइये। वही एक अदद दुशाला निर्माता-निर्देशक हर फिल्मी पिता को पहनाता फिरता है। हीरोइन के कपड़ों की इतनी काँट-छाँट और उनके पिताओं को एक नया दुशाला तक मयस्सर नहीं ! कहने को घर के ड्राइंग रूम में ही प्यानो रखा रहता है, पर उसे छूने की सख्त मनाही होती है। वह हीरो-हीरोइन के लिए रिजर्व रहता है। हमें एक अदद मंजीरा भी दिया जाता है कि बोरियत ज्यादा हो तो घर में ही बने मन्दिर के चौखट पर बैठ जाओ, मजीरा बजाते रहो।

इतना ही क्यों, एक तरफ जहाँ भारतीय समाज में विधुर पिताओं का अनुपात तेजी से घटता जा रहा है, भारतीय फिल्मों में तेजी से बढ़ता जा रहा है। अस्सी प्रतिशत फिल्मी पिताओं को बीवियाँ नहीं बख्शी जातीं। हम ताउम्र रँडुए बने ही गुजार देते हैं। यह भी नहीं सोचते कि जितनी जिन्दगी बख्शते हैं उनमें कुछ तो खुशहाली बरतें। जिन दो-चार फिल्मों में मुझे बीवियाँ मिलीं भी तो उन्हें बीवियाँ कहने में शर्म से सिर झुक जाता है। वे मेरी दूसरी पत्नियाँ या हीरो की सौतेली माएँ हुआ करती हैं। साथ ही वे इतनी कर्कश होती हैं कि लगता है इससे तो रँडुए ही भले ! ये बीवियाँ शौहर के इशारे पर नहीं बल्कि डाइरेक्टर के इशारे पर लगातार चीखती-चिल्लाती, गाली-गलौच करती और हम पिताओं की लानत-मलामत करती रहती हैं। क्या कहें, हमारी रोजी-रोटी का सवाल होता है इसीलिए सारी गाली-गलौच सह ले जाते हैं। इस बीवी को कुछ भी कहने

का अर्थ है अपने पेट पर लात मारना। फिर भी डाइरेक्टर से यह पूछने की इच्छा कई बार हुई कि भैया जी, इस नमूने की औरत आपको असल जीवन में कहीं दिखती भी है जिसमें एक-से-एक नायाब ऐब कूट-कूटकर भरे होते हैं ?

लेकिन मुझे मालूम है, इस सवाल के जवाब मे डाइरेक्टर साहब हमारे सामने फौरन इन बीवियों का विलोम-रूप प्रस्तुत कर देंगे। ऐसी साध्वी-पत्नी से भी पाला पड़ा है एकाध फिल्मों में जिनकी दिनचर्या नीम-अँधेरे, सुबह पांच बजे से ही शुरू हो जाती है। न खुद सोयेंगी, न पति को सोने देंगी। नहा-धो, चन्दन-अक्षत लिये पति के चरणस्पर्श के लिए हाजिर। उनका माथा बिल्कुल सिंदूरदान लगता है। उन्हें पति के जूतों से विशेष लगाव रहता है। अत. उनकी समुचित दिनचर्या के कवरेज का अस्सी प्रतिशत, उन्ही जूतों को प्रेम से झाड़ने-पोंछने, पॉलिश करने, पति को पहनाने, उतारने और हर बार ऐसा करते समय चूमने मे ही बीत जाता है। उनके हर सीन का प्रारम्भ और अन्त इसी से होता है। इस बहाने शायद वे यह दिखाना चाहती है कि तुमसे अच्छी तुम्हारी जूती, पर जो भी हो कुल मिलाकर जीना हराम हो जाता है। भाई साहब! उस वक्त भी इन डाइरेक्टरों का कॉलर पकड़कर यही पूछने को दिल करता है कि यार, हमें सही किस्म की बीवियां कब प्रोवाइड करोगे ? और यह भी कि इस किस्म की पति के पैर की जूती की जूतीनुमा औरत का आइडिया उन्हें कहाँ से आया ?

बहरहाल हम फिल्मी पिता घुट रहे है। हर किस्म का शोषण हो रहा है। बेटा यानी कि हीरो तक हमारी लानत-मलामत करने से नही चूकता; और करे भी क्यों न ? ज्यादा करके तो हीरो या हीरोइन मे से एक मेरे नाजायज सन्तान होती है। फिल्म में इन नाजायज सन्तानों का अस्तित्व मेरे लिए कितना नागवार होता है, आप समझ ही सकते हैं। कितनी बार डाइरेक्टर साहब को समझाया कि भैया जी, यह कन्ट्रोवरसी क्यों दिखाते हैं ? दिवंगत पत्नी के चित्र के सामने अगरबत्ती घुमवाने और खड़ताल-मजीरे बजवाने के बाद आप हमारी नाजायज सन्तानें दिखाकर, सब किये-कराये पर पानी फेर देते हो। लेकिन उन्हें इससे ज्यादा दिलफरेब सिचुएशन

मिलती ही नहीं।

हमें खासी शर्मिन्दगी से गुजरना पड़ता है कि हम दो, हमारे दो के इस युग में जब लोग-बाग जायज सन्तानों को नहीं सुलटा पा रहे तो हम नाजायज सन्तानों की कतार लेकर हाजिर रहते हैं। आखिर हमें इतना ऐंटी-नेशनल दिखाने का मकसद ? हीरोइन की इज्जत पर आँच आती है तो चारों तरफ से हाय-हाय मच जाती है, लेकिन हमारी पगड़ी सरेआम उछाली जाती है और कोई उफ तक नहीं करता !

आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दुस्तान-भर के फिल्मी पिता एक-जुट होकर अपने शोषण के विरुद्ध आवाज उठायें। डाइरेक्टरों के दरवाजे पर, सेटों की घुमावदार सीढ़ियों से नारा लगायें…हम नाजायज सन्तानें नहीं पैदा करेंगे…!

हमारा शोषण : बन्द हो…! ▭

गधों के आयात के सवाल पर

सुबह-सुबह अखबार में खबर पढ़ी—'विश्वस्त सूत्रों से ज्ञात हुआ है कि सरकार भारी संख्या मे गधे आयात करने जा रही है।' पढ़कर एक धक्का सा लगा। यह हमारी सरकार को क्या सूझी ? उल्टे बांस बरेली को !

मैं तो अब तक यही समझती थी कि अपना देश गधों की सख्या और स्थिति की दृष्टि से पूर्ण आत्मनिर्भर हो गया है, लेकिन यहाँ गधे आयात करने की बात हो रही है ! तो क्या हम भ्रम मे थे ? तो क्या इतने वर्षों की जी-तोड़ कोशिश के बावजूद हम अभी गधों की दृष्टि से आत्मनिर्भर नहीं हो पाये ? अरे होना तो यह चाहिए था कि हम विदेशों को गधे निर्यात करते। लेकिन अभी तक हमें उलटे विदेशों से गधे आयात करने पड़ते है साथ ही इससे एक और बात यह भी साफ़ हो जाती है कि विदेशों में हमसे भी बेहतर किस्म के गधे हैं।

इस विचार-मात्र से मेरा दिल दुःखी और मन मायूस हो गया। मेरे अन्दर का देशप्रेमी मेरे बाहर के बुद्धिजीवी से भिड़ गया। तब लोगों ने बीच-बचाव करते हुए समझाया कि बात ऐसी नहीं है। गधे हैं तो अपने देश में बहुत, लेकिन उनकी नस्ल जरा गड़बड़ है। अतः हो सकता है, यह उनकी नस्ल-सुधार-योजना के लिए उठाया एक महत्त्वपूर्ण कदम हो। पूरी की-पूरी कौम की नस्ल सुधारने की प्लानिंग—कमीशन वाली यह बात मुझे जँची। बात भी ठीक है। क्वाटिटी भले ही भरपूर हो, लेकिन क्वालिटी भी तो होनी चाहिए न।

फिर भी मन मे रह-रहकर कसक उठती कि चाहे जो हो, पर नाम तो खराब हुआ न अपने देश का—कि भारत-जैसा देश भी गधे आयात करने की बात कर रहा है ! लोग तो हँसेंगे न ! अरे, यही तो एक चीज थी, जिसकी यथेष्ट मात्रा और संख्या पर हमें गर्व था, जो समाज के हर क्षेत्र मे

किसी-न-किसी रूप में कहीं-न-कहीं मौजूद थीं, अपने पिता-पुत्रों की तीन पीढ़ी सहित। लाड़ से, प्यार से, खीझ से, गुस्से से—कहने का अर्थ है कि कैसी भी बात हो, 'अव्वल दर्जे के गधे' और 'गधे के बच्चे' के बिना शुरू ही नहीं होती। बाप बेटे को कहता है, बेटा वापस अपने बेटे को। इस तरह अपने-आपको दुहराता चलता है। अब ऐतिहासिक परम्परा तो दूषित हुई न ! एक इतनी अपनी और खांटी-सी सांस्कृतिक चीज पर भी 'इंपोर्टेड' का ठप्पा लगा न ! यूँ 'इंपोर्टेड' तो हमारे अति प्रिय, अजीजतर शब्दों में से एक है, लेकिन इसके साथ टी० वी०, ज़ूमर, मिक्सर जैसा कुछ छुड़ा हो तब न ''इंपोर्टेड गधा !'' ''यह भी कोई बात हुई !

साहित्य के चरागाह पर भी एक दृष्टि डालिए, तो ज्यादातर साहित्य गधा ही चरता नजर आयेगा। काव्य के नवों रसों का परिपाक गधे के बिना सम्भव ही नहीं। उदाहरण के लिए रौद्र-रस का पूरा परिपाक तब तक होता ही नहीं, जब तक गुस्से से लाल होकर, योद्धा नायक अपने आदमियों पर यह कहकर हुंकार न उठे—कि 'अब गधे की तरह खड़े-खड़े मुँह क्या देख रहे हो ? जाओ टूट पड़ो दुश्मनों पर !'

वैसे शब्द-सामर्थ्य की दृष्टि से इसके समकक्ष बस एक शब्द और बैठता है 'उल्लू'। लेकिन उल्लू को अक्सर पट्ठों का सपोर्ट लेना पड़ता है, जबकि गधा अपने-आपमें पूर्ण है।

और फिर गधा शान्त-रस का तो प्रतीक है ही। ताउम्र शान्ति से लादी ढोता चलता है। असल में देखा जाये तो हमारे देश में शान्ति का प्रतीक गधा ही माना जाना चाहिए था पर, यहाँ तो 'सोर्सवालों' की चलती है, वरना शान्ति का प्रतीक कबूतर कैसे मान लिया गया ? एक मिनट तो उसकी गुटरगूँ शान्ति से बैठने नहीं देती।

और हास्य रस के लिए तो कुछ भी नहीं, सिर्फ उसकी एक आवाज—'चीपों'—ही काफी है।

शृंगार रस के लिए जो आयु सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है उसे, जैसा कि सबको मालूम है, गदहपचीसी की उम्र कहा गया है। अपनी उम्र के पच्चीसवें साल तक हर युवक शृंगार-काल से गुजर चुका होता है, छक चुका होता है। ज्ञान के चक्षु तो तब खुलते हैं, जब पूरा-का-पूरा 'शृंगारदान'

उनके गले से बाँध दिया जाता है और हाथों में नमक-तेल-लकड़ी की लिस्ट।

हाँ तो बात आयात-निर्यात की हो रही थी और हम कह रहे थे कि अब तो हम प्रगति करते-करते इस चरण तक पहुँच गये हैं कि हम भी कुछ निर्यात कर सकें। सरकार समाज के हर तबके को, जो कुछ वह चाहे, उसे निर्यात करने की सुविधा और प्रोत्साहन दे रही है। अभी कल ही हमने फुटपाथ से 'एक्सपोर्ट क्वालिटी' चने-कुरमुरे खाये थे और परसों एक बूढ़े शेख के साथ दस-पन्द्रह निर्यात होती बच्चियाँ देखी थीं। कहने का मतलब कि निर्यात की भी तकनीक और तमीज होनी चाहिए, बस। अरे, कमीजें एक देश से मँगवाइये, बटन लगाकर दूसरे देश को निर्यात कर दीजिए! पाजामे बाहर से मंगाइये…नाड़े डालकर दूसरे देशों को एक्सपोर्ट कर दीजिए! हुनर चाहिए, हुनर!

तो कुल मिलाकर एक्सपोर्ट का बाजार बहुत व्यापक है, फिर गधों के साथ ही यह अन्याय क्यों? आखिर हमें देश की आबादी भी तो घटानी है! मैंने कई एक्सपोर्ट स्पेशलिस्टों से बात की, परिचर्चाएँ भी आयोजित कीं। लोगों का कहना है कि गधे हैं तो बहुत, लेकिन एक्सपोर्ट क्वालिटी के नहीं, इसलिए पहले हम गधे आयात करेंगे, नस्ल सुधारेंगे, फिर निर्यात करेंगे। वही कमीज और बटन, पाजामे और नाड़ेवाला प्रोसेस यहाँ भी अपनायेंगे।

इस प्रक्रिया में बहुत-से लोग तो मुझे ऐसे मिले, जो विदेश जाने की सुविधा मिलने के नाम पर सहर्ष गधों की जमात में शामिल होने को तैयार थे, लेकिन वही, नस्लवाली बात आड़े आ गयी और रह गये।

कुछ लोगों ने पूरी सुविधाएँ और प्रोत्साहन न मिलने की भी शिकायत की। मैंने उनसे कहा, 'क्या कहते हैं, इतनी सारी सुविधाएँ तो आप लोगों को दी जा रही हैं! और तो और, शुरू से आखिर तक, शिक्षा ही ऐसी दी जा रही है कि सब-कुछ पढ़-लिख और डिग्रियाँ हासिल करने के बाद भी लोग गधे-के-गधे रह जायें, फिर भी आप कहते हैं कि अपने देश में सुविधा और

प्रोत्साहन नही ? मेरे इस ज्वलंत और चुनौती-भरे प्रश्न के उत्तर मे लोग देश के विरुद्ध बोलने से हिचके। सिर्फ सिर झुकाकर आपस में कानाफूसियाँ करते रहे। मैंने दुबारा जोर देकर पूछा, 'बताइए, आपकी क्या समस्या है, क्या बात है ?'

बडी मुश्किल से उनमे से एक ने मुंह लटकाये-लटकाये कहा, 'कुछ नही, हमें देर हो रही है, जाना है।'

'कहाँ ?'

'लादी ढोने', उन्होने कहा और चुपचाप खिसक लिये।

परीक्षा-भवन की नयी आचार-संहिता

छात्र-संघ के नवनिर्वाचित, यूनियन-लीडर के पद से दिये गये भाषण की प्रतिलिपि---

सहयोगियो ! सबसे पहले इस पद को सुशोभित करने का दायित्व मुझे सौंपने के लिए हार्दिक धन्यवाद ! सच-सच कहूँ तो मैंने आप लोगो को भड़काते समय, क्लास से वाक्-आउट करने के लिए ललकारते समय, लेक्चररों और डीन का घेराव करवाते समय तथा ईंट-पत्थरों की थोक एवं फुटकर सप्लाई करते समय, इस हद तक कामयाबी की उम्मीद तो नहीं ही की थी। मैं तो दोस्तो, 'मा फलेषु कदाचन' के सिद्धांत पर चला था कि मार धड़ाधड़ रोड़े-पत्थर---फल की चिन्ता क्या ? और देख लीजिए कि हमारी पत्थर-बाजी क्या रंग लायी·· कि आप सबने मुझे छात्र-संघ के अध्यक्ष का ताज ही सौंप दिया। बहरहाल, ईश्वर और छात्र जो करते है, अच्छा ही करते हैं। आप प्रभावित हो गये, अच्छा ही हुआ वरना मै छात्रसंघ के अध्यक्ष-पद से भाषण देने के बदले इस समय रोजगार-दफ्तर के बाबू को, बगल मे दरख्वास्त दबाये, लस्सी पिला रहा होता।

हाँ, तो आज हम सब जो यहाँ एकत्र हुए है, उसका कुछ मकसद है। हमेशा हम छात्र किसी-न-किसी विशेष मकसद से ही एकत्र होते हैं, यह तो अब पुलिस भी भली-भाँति जान गयी है। जब हमारे और पुलिस के मकसद टकराते है तो बहुत-सी सरकारी, गैर-सरकारी समस्याएँ चुटकी बजाते हल होने लगती है। हम यह सोचकर ही कदम आगे बढ़ाते है कि आज के छात्र कल के शासक नही, वरन् आज के छात्र आज के ही शासक है। (तालियाँ)

दोस्तो, हमारी तबाही की कहानी आज से नहीं, तब से प्रारम्भ होती है जब जिंदगी-भर न भूलने वाली बरसात की रात में आचार्य लोग दो मुट्ठी चने देकर सुदूर जंगल से लकड़ियाँ लाने के लिए हमे भेज दिया करते थे।

इतनी मशक्कत के बाद भी हम छात्र अपने हठवश जो कुछ थोड़ा-बहुत सीख पाते, उसे जाते समय गुरु-दक्षिणा के रूप में अँगूठा कटवाकर ले लिया जाता था। तानाशाही का इससे बड़ा उदाहरण कहीं मिल सकता है भला? और आज, जब हम एकलव्य के बेताल को कंधे से लटकाये, हाथ में द्रोणाचार्य वाला चाकू लिये, हर शिक्षक के पास एकलव्य का कटा अँगूठा ढूंढ रहे हैं, तब हमें अनुशासनहीन बताया जा रहा है। एकलव्य परममूर्ख था, जो उसने अपने अँगूठे के रूप में आने वाली सन्तति की नाक कटाकर रख दी। खैर! अब हम दिखा देना चाहते हैं कि छात्र, जो मेड़ तोड़कर बहते पानी को रोक सकते हैं, चलती ट्रेन और परीक्षाएँ भी रोक सकते हैं। हमारे पास एकलव्य और आरुणि की संक्रमित क्षमता है, केवल उसका उपयोग हम आधुनिक संदर्भ में करते हैं। हमने सब धर्मों में श्रेष्ठ 'क्षात्र-धर्म' को ही अपना धर्म मान लिया है और इस धर्म तथा इस धर्म में सहायक सामग्रियों की सहायता से हम शिक्षा में समाजवाद लाने की जीतोड़ कोशिश कर रहे हैं। सिनेमा हॉलों से लेकर रेलवे प्लेटफॉर्म और चौराहों की पान की दूकानों तक—हर विद्यार्थी इस दिशा में सजग है। विद्यालय में समाजवाद लाने का दायित्व कुछ अधिक कर्मठ सहयोगियों को सौंपा गया है। ये इस बात पर कड़ी दृष्टि रख रहे हैं कि विद्यालयों में चल रही परीक्षाएँ समाजवादी एवं सुविधावादी सिद्धान्तों के अनुरूप हों।

सारे दायित्वों के बावजूद हम अपने प्रमुख उद्देश्य से अपरिचित नहीं कि हमें परीक्षा में पास होना है। सो, हम स्वयं अपने सहयोगी बन्धुओं को पास कराकर ही रहेंगे। (तालियाँ)

इस दृष्टि से मैंने सर्वसम्मति से परीक्षार्थी एवं परीक्षकों के लिए एक संशोधित आचार-संहिता बनायी है, जो छात्रों एवं परीक्षकों, दोनों पर समान रूप से लागू होगी। आचार-संहिता इस प्रकार है—

(१) प्रश्नपत्र, उस प्रश्नपत्र की सही और सटीक प्रतिलिपि होंगे, जिसे यूनियन-लीडर सहित वरिष्ठ छात्र नेताओं ने डीन का घेराव कर उन्हें इस माँग के साथ दिया था कि परीक्षा में यही प्रश्नपत्र दिये जाएँगे।

(२) परीक्षा-भवन में प्रवेश के सम्बन्ध में कोई प्रतिबन्ध नहीं माना जाएगा। पास होने की जिम्मेदारी हमारी है और हम उसके प्रति सजग हैं।

(३) प्रश्नपत्र देखने के पश्चात् यदि विद्यार्थी चाहे तो उसमें संशोधन की प्रार्थना कर सकते है। संशोधन की स्वीकृति का अधिकार समान रूप से सभी निरीक्षको को प्राप्त होगा, चाहे साहित्य की कक्षा मे गणित का ही निरीक्षक क्यों न हो; नियम समान रूप से लागू होगा।

(४) परीक्षार्थी उत्तर-पुस्तिका के एक तरफ लिखे, चाहे दोनो तरफ, अथवा किसी भी तरफ नही, इसका उसे मिलनेवाले प्राप्तांकों पर कोई असर नही पड़ना चाहिए।

(५) आज का, सामाजिक, राजनैतिक, यानी हर दृष्टि से सक्रिय छात्र लगातार तीन घंटे परीक्षा-भवन मे नही बैठ सकता, अत एक सामाजिक प्राणी के रूप में वह परीक्षा-भवन के बाहर आवागमन कर सकता है।

(६) यह सुविधा निरीक्षकों को भी समान रूप से प्राप्त होगी। छात्र नेता इसके लिए सहर्ष अनुमति देगा।

(७) परीक्षार्थी यदि किसी विवादास्पद प्रश्न पर परस्पर विचारो का आदान-प्रदान करना चाहें तो उन्हे इसका अधिकार होगा। हम दावे के साथ कहते है कि इससे निरीक्षकों का कोई अहित न होगा। संघर्ष की स्थिति तभी आयेगी, जब निरीक्षक या पुलिस हस्तक्षेप की कोशिश करेंगे।

(८) प्रत्येक परीक्षार्थी के चारो ओर इतना स्थान हो कि वह घर से लायी गयी सदर्भ-पुस्तकों एवं गैस-पेपर्स को रख सके एव आवश्यकता पड़ने पर निरीक्षक महोदय से अपने विषय से सम्बद्ध कोई भी पुस्तक माँग सके। परीक्षार्थी की जरूरत की पुस्तक निरीक्षक उसे हर स्थिति मे उपलब्ध करायेगा।

(९) बोर्ड एवं विश्वविद्यालयों की ओर से प्रत्येक विषय के परीक्षको के नाम एवं पतो की लिस्ट परीक्षार्थियो को नि शुल्क वितरित की जानी चाहिए। इससे शिक्षक एवं विश्वविद्यालयों के अधिकारी उन खतरो से सहज ही मुक्त हो सकेंगे, जो उन्हें आयेदिन त्रस्त किये रहते हैं। तब परीक्षार्थी सीधे तौर पर अपने परीक्षको से ही निपट लेंगे।

(१०) परीक्षार्थी को अधिकार होगा कि वह अनुशासन की रक्षा के लिए छुरी-चाकू-जैसा कोई भी एक हथियार रख सकता है। हम विश्वास दिलाते है कि इनका उपयोग हमारे सहयोगी आक्रामक नही, वरन्

मुरक्षात्मक रूप से करेंगे, जिस तरह पुलिस करती है।

(११) प्रत्येक विषय के प्राप्तांक विद्यार्थी को सूचित कर, उसकी अनुमति के पश्चात् ही, परीक्षाफल के रूप मे घोषित किये जा सकेंगे। बिना भेद-भाव एव पक्षपात की नीति अपनाये सभी परीक्षार्थियो को प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण करना अनिवार्य होगा क्योंकि हम शिक्षा के क्षेत्र में प्रथम श्रेणी का समाजवाद लाना चाहते है।

(१२) अन्तिम चेतावनी के रूप मे हम परीक्षको, निरीक्षको, उपकुलपति तथा पुलिस से अपील करते है कि उपर्युक्त आचार-संहिता का शांतिपूर्ण ढंग से पालन होने पर, हम किसी प्रकार की असामाजिक स्थिति उत्पन्न किये बिना अनुशासन बनाये रखेंगे। साथ ही समस्त अधिकारीगण सहित, पुलिस-परिवार के कुशल-क्षेम को अपना दायित्व समझेंगे। (तालियाँ)

बड़े बेआबरू होकर कला-वीथी से हम निकले···

अपनी इस दो कौडी की जिन्दगी और ईश्वर से मुझे बस एक ही शिकायत है कि उसने मुझे सब-कुछ दिया, सिर्फ 'कला' को समझने की बुद्धि नहीं दी। अब तो लगता है, यह तमन्ना दिल मे लिये-लिये ही एक दिन कूच कर जाना होगा। वह दिन दोनों में से किसके लिए ज्यादा शुभ होगा, नही कह सकती। मेरे लिए या कला के लिए ?

ऐसा नही कि इस दिशा मे कुछ किया नही जा सकता था। बेशक, किया जा सकता था; जैसे या तो वह मुझे इस लायक बना देता कि मैं 'कला' को समझ सकूँ या कला को इस लायक बना देता कि उसे समझा जा सके। लेकिन दोनो मे से कुछ भी न हो सका। सिवाय इसके कि कला-वीथियों मे आर्ट गैलरियों मे अपना-सा मुँह लिये कोरी-की-कोरी लौट आयी।

शायर होती तो कहती—

बड़े बेआबरू होकर तेरे कूचे से हम निकले···

जी हाँ, निकले नाक कटाकर और इज्जत का टका कला-वीथी के कदमों मे लुटाकर।

सोचती हूँ तो हैरत होती है—कलाकारों ने भी क्या अजीबो-गरीब चीज बनायी है यह 'कला' कि भगवान् की बनायी सब चीजों के ऊपर हो गयी। यानी भगवान् की बनायी सृष्टि की ज्यादातर चीजे सिर में समा जाती हैं, लेकिन आदमी की बनायी कला सिर के ऊपर से निकल जाती है। इस शर्मिन्दगी, इस कोफ्त को जिन भोगा तिन जानियाँ···

आगे क्या कहूँ, शायर होती तो कहती !

एक बार कला-वीथी लगी थी। चित्रकार अमुक जी भी वहीं बैठे थे। मैंने कमर कस के कला को समझने का बीड़ा उठाया और भगवान् का नाम लेकर कला-वीथी में प्रवेश कर गयी जैसे हनुमान् जी सुरसा के मुँह में प्रवेश

कर गये थे, अभिमन्यु चक्रव्यूह में प्रवेश कर गये थे, बिना आगा-पीछा सोचे'''होइहैं सोई जो राम रचि राखा

संप्रति, कला-वीथी में पहुँची और कलाकार ने जो रचि राखा था उसे हर एंगिल से, पूरे मनोयोग से समझने की पुरजोर कोशिश में लग गयी। दो-चार चित्रों के बाद ही कामयाबी कदम चूमती-सी लगी, क्योंकि पहला चित्र ही साफ-साफ समझ मे आने लगा था। हरे-भरे बैकग्राउंड में चित्रकार ने पेड़ बनाया था— बस, अच्छा चित्र था। भला हो चित्रकार का! समझ बढ़ी, तो आत्मविश्वास बढा, जिज्ञासा बढी और ज्यादा जानने की-सी; अमुक चित्रकार जी के पास पहुँची, पूछा—

'अमुक जी, इस चित्र के पेड़ को बनाने की प्रेरणा आपको कहाँ से मिली?'

'पेड? पेड़ कहाँ है?' उन्होंने हैरानी से मुझे देखते हुए पूछा।

'क्यों? ये क्या रहा ये 'ये वाला'''

'वह पेड़ नहीं, औरत है!' अमुक जी मुझे पूरी तुच्छता से घूरा और पलट लिये।

लीजिए हो गयी छुट्टी। कला के घर को खाला का घर समझ बैठी। वही कोफ्त, कुढ़न और शर्मिन्दगी। शायर होती तो कहती—न ये थी हमारी किस्मत''''''

शायर नहीं थी, सो चुपचाप खिसियायी-सी खिसक ली। मन में रंज था कि एक चित्रकार का दिल भी दुखाया। इस पाप का प्रायश्चित्त किस प्रकार हो? मैं जल्दी-जल्दी दूसरे चित्र को देखने लगी।

दूसरा चित्र देखा। वह भी एक पेड ही था। मैंने मन को समझाया, यानी यह भी एक औरत है। उसके बाद तीसरा चित्र एक औरत का ही था। मैं सोच में पड़ गई। जो पेड दिखता था, वह तो औरत थी; अब यह जो औरत थी, अब यह जो औरत दिख रही है सो कला के हिसाब से क्या हो सकती है? पेड़? अमुक जी से पूछती हूँ, इस पेड़ को, नहीं इस औरत को, नहीं इस चित्र को यही ठीक रहेगा। इसलिए जाकर पूछा—

'इस चित्र की प्रेरणा आपको कहाँ से मिली?'

'कौन-से चित्र की?'

'यह औरत वाला ?'

'वह···वह तो मिल की चिमनी का चित्र है !'

'अजी क्या कहते हैं ! सोचकर देखिये कहीं आपसे भूल तो नहीं हो रही ? देखिये ये औरत के लम्बे-लम्बे बाल···'

'वह बाल नहीं, चिमनी से उड़ता हुआ धुआँ है।' अमुक जी धुंधलायी आवाज में बोले—'दरअसल मैंने महानगरीय प्रदूषण की जीती-जागती तस्वीर खीचनी चाही है···'

'लेकिन फिर औरत के रूप में क्यों ?'

'सामाजिक प्रदूषण का चित्र खीचना था न, इसलिए औरत से अच्छा माध्यम और क्या मिलता ?'

'औरत को आपने और किस-किस प्रतीक के माध्यम से चित्रित किया है ?'

'कोई एक-दो प्रतीक हो तो गिनाऊँ। यहाँ ही जितने चित्र टँगे हुए है उनमें से ही औरत कई चीजों की प्रतीक बनाकर चित्रित की है मैंने !'

'आपकी इस लाइन में तो सारे पेड़-ही-पेड़ है···'

'जी हाँ, यानी औरतें-ही-औरतें···'

'और जितनी औरतें उतने यथार्थ !'

'आइये देखिये, मैंने चित्रों में आज के जीवन का यथार्थ किस प्रकार दिखाया है।'

वे फिर से एक वृक्ष के चित्र के पास ले गये। वह खूब मजे का मोटे तने वाला दमदार वृक्ष था।

अमुक जी बोले—'ध्यान से देखिये, आप इसमे जीवन का यथार्थ पायेंगी।'

मैंने ध्यान से देखा, जीवन का यथार्थ नही दिखा, हाँ उस चित्र के कोने मे एक दुबला मीकिया-सा शुतुरमुर्ग दिखा। वह चोंच में कुछ दबाये था।

थोड़ी हिम्मत जुटाकर पूछा—'यही न ?'

'जी हाँ···कुछ समझी आप ?'

अब तक के अनुभव के आधार पर मैं इतना समझी थी कि यह शुतुरमुर्ग

और चाहे जो हो, शुतुरमुर्ग हर्गिज नही हो सकता। इसलिए ईमानदारी में कहा—

'जी हाँ, नही समझी, क्या है यह ?'

'उस औरत का पति।'

'किस औरत का ?'

उन्होंने मोटे दमदार तने वाले वृक्ष की ओर हिकारत से दिखाकर कहा—

'इस औरत का।'

'और···और वह चोंच में क्या दबाये है·· ?'

'नाश्तेदान लेकर दफ्तर जा रहा है, और क्या ?'

मेरा सिर कलामुडियाँ खा रहा था। लग रहा था, मैं कला-दीर्घा मे नही, लखनऊ के बड़े इमामबाड़े में हूँ। झिझकते-झिझकते पूछा—

'एक बात बताइये, आप लोग पेड़ को पेड और औरत को औरत की तरह नही बना सकते ?'

'बना क्यों नही सकते ?' उन्होंने सगर्व कहा।

'फिर ?'

'लेकिन फिर हमारे और ऐरे-गेरे कमर्शियल आर्टिस्टों मे फर्क क्या रह जायेगा ?'

'यानी ?'

'यानी कला के धर्म का निर्वाह हम कैसे कर पायेंगे ?'

'लेकिन, औरत और वृक्षों के प्रति भी तो आपका कुछ फर्ज बनता है !'

उन्होंने मुझे इस तरह क्रोधित दृष्टि से देखा जैसे बराबर से सरवर करने वाले काकभुशुण्डि को कौआ बनाने से पहले उनके गुरु लोमश मुनि ने देखा होगा। शायर होती तो कहती—

वो कत्ल भी करते है तो चर्चा नही होती।

हम आह भी करते हैं तो ··

लेकिन शायर नहीं थी इसलिए फिर से चुपचाप खिसक ली। आते-आते जरा दूर पर एक चित्र दिखा। वह सोलहों आने औरत ही थी लेकिन पास जाकर देखा तो, उसके नाक, कान, होंठ सब गायब···

खुदाया ! क्या रहस्य है ? अच्छी-भली औरत, सलीकेदार हाथ-पाँव, लेकिन नाक-नक्शे गायब ! अमुक चित्रकार जी के पास जाने की हिम्मत नहीं थी, पास खड़े एक सज्जन से पूछा—

'क्यों भाई साहब ! इस औरत के आँख, नाक, कान, वगैरह क्या हो गये ?'

'कला को समर्पित···'

उन्होंने संजीदा आवाज में कहा और इधर चित्रों की ओर बढ़ गये। मैं एक बार फिर बेआबरू होकर कूचे से निकल आयी। ▭

नेपथ्य का चम्पू नाटक

नेपथ्य में पति-पत्नी दोनों है, इसका संकेत देने के लिए जितना कुछ रणभेरीनुमा बजना-गूँजना चाहिए, सब बजेगा और गूँजेगा। स्टेज के आर-पार अन्दर से चीख-पुकार, गरज-तरज और उठा-पटक की आवाजें, साथ ही बीच-बीच में पेन, किताबें, आलू, गाजर, मर्दानी चप्पलें, जनानी सैंडिलें तथा एकाध चम्मच आदि रसोई के संयन्त्र स्टेज पर फेंके जायेंगे। संगीत बनाम कोलाहल शान्त होता है। नायिका बाल खोले, एक हाथ में पेन, दूसरे हाथ मे कुछ मुड़े-तुड़े कागज या फटी-सी डायरी लिये आती है।

नायिका : *(दर्शकों से) देखते हैं न आप···ये मर्दानी घुड़कियाँ·· ये जनानी* सिसकियाँ ? यह कोई व्यावसायिक मंच नहीं, हर घर के नेपथ्य मे चलने वाला समान्तर नाटक है। और नायक ? (शरमाकर, संकोच-भरे स्वर में) जी, हाँ। 'वे' ही है, अरे वे ही·· (गाती है)

मैं कैसे नाम लूं उनका
जो गरजा करते है हरदम,
जो बरसा करते हैं हरदम· ऊँ हूँ ऽऽ हूँ ऽऽ
(फिल्मी तर्ज : जो दिल में रहते है हरदम)

और नायिका ? जी हाँ, मैं ही हूँ नायिका। (निःश्वास भरकर) कितना मादक है किसी ऐसे नाटक की नायिका बनना···और नायिका ही क्यों ? नायिका बनाम लेखिका, बनाम कवयित्री। देखते नहीं···

यह कागज, यह कलम
यह लेखन की धार
महीने के बजट के खिंचे हुए तार,

सीली हुई उडद (सखि, आया मधुमास)
धोबी का हिसाव, लगता है शायद
एक पायजामा कर दिया गायब !
पैसे काटूँ या दे दूँ ?

(नयी कविता के द्वंद्व)

और वीच-वीच मे शायरी के दौर भी तो मुलाहजा फरमाइए…

छोटी-सी वात शराफत की भी
इनसे कही नही जाती—
कुछ वो गरमाये रहते है
कुछ हम घवराये रहते है !

नायिका : (बतर्ज अमीन सयानी) जी हाँ, साहब, तो इस तरह से समझ लीजिए इस नाटक के नायक यानी…यानी मेरे 'वो' घर सर पे उठाये रहते है।
(बुलंदी मे हँसना शुरू ही करती है कि अन्दर से नायक की गरजदार आवाज आ जाती है।)

नायिका : (सिटपिटाकर) लीजिए · लीजिए, वे आ गये। हाय ! उनके हाथों में तो आज आये, ताजे, सशक्त मन को छू लेने वाले सपादको, संयोजकों, प्रशासकों, पाठकों के पत्र भी हैं। हाय राम, मुझे तो नये नाटकों का दिशाभ्रम हो रहा है·

मैं इधर जाऊँ कि उधर जाऊँ…कहाँ जाऊँ,
मदद करो सन्तोषी माँऽऽऽऽ

(दर्शको मे) क्या कि वो क्या आये मेरी शामत ही समझ लें, आयी।
(नायिका स्टेज के दूसरे कोने मे दुबक जाती है। नायक एक हाथ में पतली-लचीली छड़ी फटकारता, दूसरे में कुछ लिफाफे लिये आता है।)

नायक : (गरजकर) कहाँ गयी ? वहाँ क्यों खड़ी है ? चल निकल, इधर आ ! (लिफाफे फेंककर) बोल, कहाँ से आये हैं ये प्रेमपत्र ?

नेपथ्य का चम्पू नाटक

नेपथ्य में पति-पत्नी दोनों हैं, इसका संकेत देने के लिए जितना कुछ रणभेरीनुमा बजना-गूंजना चाहिए, सब बजेगा और गूंजेगा। स्टेज के आर-पार अन्दर से चीख-पुकार, गरज-तरज और उठा-पटक की आवाजें, साथ ही बीच-बीच में पेन, किताबें, आलू, गाजर, मर्दानी चप्पलें, जनानी सैंडिलें तथा एकाध चम्मच आदि रसोई के संयन्त्र स्टेज पर फेंके जायेंगे। संगीत बनाम कोलाहल शान्त होता है। नायिका बाल खोले, एक हाथ में पेन, दूसरे हाथ में कुछ मुड़े-तुड़े कागज या फटी-सी डायरी लिये आती है।

नायिका : (दर्शकों से) देखते हैं न आप… ये मर्दानी घुड़कियाँ… ये जनानी सिसकियाँ? यह कोई व्यावसायिक मंच नहीं, हर घर के नेपथ्य में चलने वाला समान्तर नाटक है। और नायक? (शरमाकर, संकोच-भरे स्वर में) जी, हाँ। 'वे' ही हैं, अरे वे ही… (गाती है)

मैं कैसे नाम लूं उनका
जो गरजा करते हैं हरदम,
जो बरसा करते हैं हरदम ऊँ हूँ ऽऽ हूँ ऽऽ
(फिल्मी तर्ज : जो दिल में रहते हैं हरदम)

और नायिका? जी हाँ, मैं ही हूँ नायिका। (नि.श्वास भरकर) कितना मादक है किसी ऐसे नाटक की नायिका बनना… और नायिका ही क्यों? नायिका बनाम लेखिका, बनाम कवयित्री। देखते नहीं…

यह कागज, यह कलम
यह लेखन की धार
महीने के बजट के खिंचे हुए तार,

सीली हुई उडद (सखि, आया मधुमास)
धोबी का हिसाब, लगता है शायद
एक पायजामा कर दिया गायब !
पैसे काटूँ या दे दूँ ?

(नयी कविता के द्वंद्व)

और बीच-बीच में शायरी के दौर भी तो मुलाहजा फरमाइए...

छोटी-सी बात शराफत की भी
इनसे कही नही जाती—
कुछ वो गरमाये रहते हैं
कुछ हम घबराये रहते हैं !

नायिका : (बतर्ज अमीन सयानी) जी हाँ, साहब, तो इस तरह से समझ लीजिए इस नाटक के नायक यानी...यानी मेरे 'वो' घर सर पे उठाये रहते हैं।

(बुलंदी मे हँसना शुरू ही करती है कि अन्दर से नायक की गरजदार आवाज आ जाती है।)

नायिका : (सिटपिटाकर) लीजिए लीजिए, वे आ गये। हाय ! उनके हाथों में तो आज आये, ताजे, सशक्त मन को छू लेने वाले संपादकों, संयोजकों, प्रशासकों, पाठकों के पत्र भी हैं। हाय राम, मुझे तो नये नाटकों का दिशाभ्रम हो रहा है...

मैं इधर जाऊँ कि उधर जाऊँ...कहाँ जाऊँ,
मदद करो सन्तोषी माँऽऽऽऽ

(दर्शकों से) क्या कि वो क्या आये मेरी शामत ही समझ लें, आयीं।

(नायिका स्टेज के दूसरे कोने मे दुबक जाती है। नायक एक हाथ में पतली-लचीली छड़ी फटकारता, दूसरे में कुछ लिफाफे लिये आता है।)

नायक : (गरजकर) कहाँ गयी ? वहाँ क्यो खड़ी है ? चल निकल, इधर आ ! (लिफाफे फेंककर) बोल, कहाँ से आये हैं ये प्रेमपत्र ?

नेपथ्य का चम्पू नाटक

नेपथ्य मे पति-पत्नी दोनों हैं, इसका संकेत देने के लिए जितना कुछ रणभेरीनुमा बजना-गूँजना चाहिए, सब बजेगा और गूँजेगा। स्टेज के आर-पार अन्दर मे चीख-पुकार, गरज-तरज और उठा-पटक की आवाजें, साथ ही बीच-बीच में पेन, किताबें, आलू, गाजर, मर्दानी चप्पलें, जनानी सैंडिलें तथा एकाध चम्मच आदि रसोई के संयन्त्र स्टेज पर फेंके जायेंगे। संगीत बनाम कोलाहल शान्त होता है। नायिका बाल खोले, एक हाथ में पेन, दूसरे हाथ में कुछ मुड़े-तुड़े कागज या फटी-सी डायरी लिये आती है।

नायिका · (दर्शकों मे) देखते हैं न आप···ये मर्दानी घुड़कियाँ·· ये जनानी सिसकियाँ? यह कोई व्यावसायिक मंच नही, हर घर के नेपथ्य मे चलने वाला समान्तर नाटक है। और नायक? (शरमाकर, सकोच-भरे स्वर मे) जी, हाँ। 'वे' ही है, अरे वे ही·· (गाती है)

मै कैसे नाम लूँ उनका
जो गरजा करते हैं हरदम,
जो बरसा करते है हरदम ऊँ हूँ ऽऽ हूँ ऽऽ
(फिल्मी तर्ज : जो दिल में रहते है हरदम)

और नायिका? जी हाँ, मै ही हूँ नायिका। (नि.श्वास भरकर) कितना मादक है किसी ऐसे नाटक की नायिका बनना···और नायिका ही क्यो? नायिका बनाम लेखिका, बनाम कवयित्री। देखते नही ··

यह कागज, यह कलम
यह लेखन की धार
महीने के बजट के खिंचे हुए तार,

सीली हुई उड़द (सखि, आया मधुमास)
धोबी का हिसाब, लगता है शायद
एक पायजामा कर दिया गायब !
पैसे काटूँ या दे दूँ ?

(नयी कविता के द्वंद्व)

और बीच-बीच में शायरी के दौर भी तो मुलाहजा फरमाइए···

छोटी-सी बात शराफत की भी
इनसे कही नही जाती—
कुछ वो गरमाये रहते हैं
कुछ हम घबराये रहते हैं !

नायिका : (बतर्ज अमीन मयानी) जी हाँ, साहब, तो इस तरह से समझ लीजिए इस नाटक के नायक यानी···यानी मेरे 'वो' घर सर पे उठाये रहते है।

(बुलंदी मे हँसना शुरू ही करती है कि अन्दर से नायक की गरजदार आवाज आ जाती है।)

नायिका : (सिटपिटाकर) लीजिए लीजिए, वे आ गये। हाय ! उनके हाथों मे तो आज आये, ताजे, सशक्त मन को छू लेने वाले संपादकों, सयोजकों, प्रशामको, पाठकों के पत्र भी है। हाय राम, मुझे तो नये नाटकों का दिशाभ्रम हो रहा है

मैं इधर जाऊँ कि उधर जाऊँ···कहाँ जाऊँ,
मदद करो सन्तोषी माँऽऽऽऽ

(दर्शकों से) क्या कि वो क्या आये मेरी शामत ही समझ ले, आयी।

(नायिका स्टेज के दूसरे कोने मे दुबक जाती है। नायक एक हाथ में पतली-लचीली छड़ी फटकारता, दूसरे में कुछ लिफाफे लिये आता है।)

नायक : (गरजकर) कहाँ गयी ? वहाँ क्यों खड़ी है ? चल निकल, इधर आ ! (लिफाफे फेंककर) बोल, कहाँ से आये हैं ये प्रेमपत्र ?

नायिका : (दर्शकों से) देखा ? जैसे जानते ही न हो। पहले ही चौंककर, पकड़कर, फिर गोद से चिपकाकर लाये हैं धूर्त-प्रवर ! (प्रकट नायक से) प्रेमपत्र नहीं, स्वामी…

नायक : चो ऽऽप्प ! जैसे मैं समझता न होऊँ। बोल, क्या लिखा था ?

नायिका : (एक आँख दीनता छुपाने के लिए हाथ से ढकती है और दूसरी आँख दर्शकों को मारती है) जी, व्यंग्य।

नायिका . व्यंग्य ? बोल, क्यों लिखा था मुझपर व्यंग्य ?

नायिका · (दीन स्वर में) आप पर ? आप पर व्यंग्य कैसे लिखा जा सकता है, श्रेष्ठ ? वह भी इस नश्वर पेन से ?

है छुरी नहीं तलवार नहीं,
ना बर्छी है, असिधार नहीं।
तुम पर मैं कैसे लिखूं व्यंग्य ?

(तर्ज : वीरों का हो कैसा वसन्त)

(नयी कविता के तेवर में चुपचाप घुसकर बैठी—पूर्ववर्ती कविता की गन्ध)

नायक : (कुछ सोचकर) अच्छा ! मुझपर नहीं लिखा तो मेरे बॉस पर लिखा होगा व्यंग्य। बोल, क्यों लिखा मेरे बॉस पर ?

(प्रिय पाठक ! ऐसा ही एक वाक्य पंचतन्त्र की एक कथा में भेड़िया मेमने से कहता है—तूने गाली नहीं दी तो तेरे बाप ने दी होगी।)

नायिका : (अप्रकट) बॉऽऽऽस

हाऽऽऽय, वह धीर ललित नायक
वह मेरी कविता का उच्छ्वास
छुप कर बस देखा एक बार,
जब इन्हें छोड़ने आया लेकर
अपनी मोटरकार,
हाऽऽऽय वह मोटर कार…

नायक : (बेसब्री से) बोल ! बॉस पर लिखा ?

नायिका : (जल्दी से लहजा बदलकर) नहीं नाथ !

वह बॉस तुम्हारा होगा
मैं क्यों डालूं उसको घास ?
मुझको तनिक न भाता बॉस !

(परिचर्चा के लिए नया विषय : 'पति के बॉस को डाली जाये कितनी घास')

नायक अरे चोप्प ! जैसे मैं जानता न होऊँ ! शादी-शुदा होते हुए तूने सैकड़ों असफल प्रेम की कहानियाँ और विरह-गीत लिखे। खुले-आम कवि-सम्मेलनों मे हाथ मटका-मटकाकर प्रणय-गीत गाये। घर में नमक, तेल, लकड़ी सब-कुछ मौजूद रहते हुए भी तूने अभाव और बे-भाव के नाटक और दलित कहानियाँ लिखीं। अरे तू घुटी हुई है ! मैं सब जानता हूँ। मुझे भी संयोजक, समीक्षक समझ रखा है ? (झपटता है)

नायिका : नहीं स्वामी, नहीं ! मुझे जो चाहे कह लो, पर समीक्षक और प्रशंसकों को गाली मत दो ! वे ही तो डनलप पर बैठकर लिखी मेरी कहानियों मे भुगता हुआ यथार्थ छांटते है। प्लास्टिक के फूलों को देखकर लिखी कविताओं मे वसंत एव गुसलखाने के शॉवर-तले सूझी कविताओं के आधार पर मुझे प्रकृति की सच्ची उपासिका सिद्ध कर देते है। और भी बहुत-कुछ स्वामी, जो पिछले और अगले सात जन्मों मे भी देखने-सुनने की गुजाइश नहीं। वह सब मेरी रचनाओं मे लाने का श्रेय मेरे ग्रुप वाले समीक्षकों को ही तो है ! धीरे बोलो नाथ, धीरे बोलो…इन पत्र-पत्रिकाओं के कान बडे तेज होते हैं।

नायक : अरी, मुग्धा-सी दिखने वाली प्रौढा, तेरा भुगता यथार्थ, अहसास के क्षण सब मैं जानता हूँ। जिस दिन खौलती चाय मे मेरा मुँह झुलस गया था उस दिन तूने कविता लिखी थी—

आह ये दिन,
वाह ये दिन—
रोज क्यों आते नही ?

और जिस दिन उस बॉस के बच्चे ने मुझे लताड़ा था, नौकरी से

निकालने की धमकी दी थी—उस दिन घर लौटने पर तू मुझे गाती हुई मिली थी—

सखि, दूर कहीं बादल गरजा
तो नाचा मन का मोर।

और अभी कल उसे छैले गिरधर के जाने के बाद उसका चाय का खाली प्याला उठाती हुई तू नयी कविता रच रही थी—

यह ज़िन्दगी आली
जैसे चाय की खाली प्याली।

नायिका : हाय राम ! वह मिस्टर गिरधर की चाय की प्याली थी ? मैंने समझा था कि आपकी है, आर्यपुत्र ! यह चाय की खाली प्याली जैसी कविता मैं आपको छोड़कर और किसपर लिख सकती हूँ स्वामी ? आपको मुझपर श्रद्धा नहीं तो विश्वास तो कीजिए ! 'कामायनी' पढ़िए स्वामी, 'कामायनी'। हाय, प्रसाद जी नहीं रहे ! इतना लिखा उन्होंने, पर कोई पति-पुरुष पढ़े तब न ! निराला जी ! आपने ठीक कहा था 'बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु'। मैं नहीं बाँधती थी। मम्मी, डैडी ने जबरदस्ती बँधवा दी मेरी जीवन-नैया…ऊँ हूँ…हूँ…हूँ · (रोती है) महादेवी जी ! आइए अपनी आँखों से देख लीजिए…

मैं किस दु:ख से पाल रही हूँ
यह कृतघ्न परिवार किसी का।
दो कौड़ी का प्यार किसी का।

हाय, पंत जी ! आपका कहा सच निकला —

कुलिश-से उनके वचन कठोर
जला जाते हैं तन मन प्राण
अहे, यह कष्ट महान्।

नायक : (छड़ी फटकारकर) बुला ले, बुला ले अपने सारे मायके वालों को, बुला ले ! मुझे किसी का डर नहीं। मैं तुझे छोड़ूँगा नहीं, जब तक यह न बतायेगी कि व्यंग्य तूने किस गधे पर लिखा ?

नायिका : (जल्दी से) शश्-चुप ! गाली-गलौज और यह गधे-वधे वाली शब्दावली अभी काव्य में नहीं, बस 'आत्मकथा' और यथार्थ-वादी कहानियों में ही प्रयोग की जाती है। काव्य मे बस, हरी घास पर क्षण-भर'' कहकर संकेत दे दिया जाता है, बाकी पाठक खुद समझ लेते है जैसे—

हरी घास पर क्षण-भर, चर कर' '
चला गया वह
लादी ले कर'''

नायक : (छड़ी लेकर दौडता है) ठहर, तू बहुत बहकने लगी है आजकल। किसके साथ हरी घास पर पिकनिक मना रही थी ? बोल ! किस पर व्यंग्य लिखा था ? बोल ! चुप क्यों है, बोल ! मैं तो बस एक ही कविता जानता हूँ—ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी।

(नायिका बच-बचकर निकलती है पर एकाध छड़ी लग ही जाती है। अन्त में लस्त होकर कराहकर बैठ जाती है और फिल्मी नायिका की तरह रो-रोकर गाने लगती है—'यारो लो देखो इसे, यही तो मेरा दिलदाऽऽर है।' एक-दो पंक्ति गाकर तेजी मे सिसकी लेती है।)

नायक . (थोड़ा घबराकर पास आता है) क्या हुआ ? ज्यादा तो नही लगी ?

नायिका : (कराहते हुए) नही स्वामी, अब ज्यादे क्या लगेगी ! ज्यादे तो महिला-वर्ष-भर लगती थी।

नायक : (पछताये स्वर में) क्या करूँ, गुस्सा आ गया। तुझसे भी तो पचासों बार कहा कि देख, यह किस्सा-कहानी लिखना बन्द कर दे, अड़ोस-पड़ोस में बदनामी होती है, लेकिन तू सुनती ही नही ? मैं जानता हूँ, यथार्थ से तेरा कुछ लेना-देना ही नही, पर पड़ोसी तेरे समीक्षक से कुछ कम नादान थोड़ी होते हैं ! सारे झूठ को सच समझ लेते हैं। देख, अभी तेरी कहानी 'देशनिकाला' पढ़कर मेरे ऑफिस में अफवाह उड़ गयी कि तू मुझको छोड़कर

भाग गयी ! अब बता, खून खौलेगा या नहीं ? मुझसे बता, तुझे क्या तकलीफ है ? बोल, आखिर क्यों लिखती है ?

नायिका : (कराहकर उठते हुए) नहीं लिखूंगी, अब कभी नहीं लिखूंगी, कुछ नहीं लिखूंगी, बस जितना जो आप कहेंगे, नाथ ! वही करूंगी।·· आपके आदेशों का पालना·· आज्ञा देव !

नायक : (जरा सकोच से, उठते हुए) क्या पूछा तूने ? मैं जरा समझा नहीं ?

नायिका : यही कि मैं क्या करूँ ? आपका क्या हुक्म है ?

नायक : (प्रसन्न) अच्छा-अच्छा। अभी बताता हूँ· क्या आज्ञा दूँ ? ऐं ? आज्ञा का सबसे अच्छा सदुपयोग· (कान खुजाते हुए सोचता है, ठहरकर—यानी सूझ गया) हाँ, याद आ गया—सुन ! जा तू पकौड़े तल···इसी में सच्चा सुख प्राप्त होगा—इसी में तेरी सार्थकता है।

नायिका : जो आज्ञा देव ! (स्टेज के बीचोबीच जाकर) तल दूँ ? हाँ, तले ही देती हूँ। इसलिए क्योंकि खुद मुझे भी भूख लग रही है। तो चलती हूँ, पकौड़े ही तलती हूँ।···(रुककर) लेकिन सम्पादक ने जो रचना माँगी है उसका क्या होगा ? रचना के बदले पकौड़े भला कैसे भेज दूँ ? ऊँह· भेजूंगी, जरूर भेजूंगी, हरी मिर्च डले पकौड़े ही, चटनी के साथ साहित्य में कुछ नया, लीक से हटकर ! (खुश होकर) और फिर सबसे बड़ी बात, सबसे बड़ा फायदा, उसे सम्पादक सखेद, सधन्यवाद लौटायेगा भी नहीं ! हाँ, कभी नहीं।

(इति श्री चंपू नाटके नायिकाया बुद्धिकौशलम् अध्यायः)

'क' से कर्फ्यू
'का' से काला जल

प्यारी बहनो तथा भाइयो ! मैंने आपमें से कइयो से बात की। सभी इस मुद्दे पर एकमत नजर आये कि वाकई हमारी शिक्षा-प्रणाली मे आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। अब यह भी कोई बात हुई कि मुल्क तरक्की की ढोल पीटता-पीटता कहाँ-से-कहाँ जा पहुँचा और हम अभी तक 'क' से कबूतर, 'ख' से खड़ाऊँ ही रटाये जा रहे हैं ! 'स' से 'सरोता कहाँ भूल आये प्यारे ननदोइया' ही फेस्टिवल ऑफ इण्डिया मे गाये जा रहे हैं !

तो जरूरत इस बात की महसूस की गयी कि वर्णमाला आज के संदर्भो से जोड़कर बच्चो को सिखायी जाये। आश्चर्य ! इस बात पर भी सभी ने सहमति जतायी। मैं खुशी से पागल—भला ईश्वर ने हमे यह दिन तो दिखाया कि किसी भी एक मुद्दे पर हम सहमत तो हुए ! और चटपट वर्ण-माला को परिवर्तित सन्दर्भो से जोड़ने का काम चालू हो गया। परिणाम आपके सामने है। मुलाहिजा फरमाइए—

'क' से कर्फ्यू, 'का' से काला जल या काला धन, 'ख' से खदक, 'खा' से खाई, 'ग' से गधे का गधा ही ठीक रहेगा, 'घ' से घपला, 'घा' से घास। यों भी गधे और घास आस-पास रहने से चरने में भी सुविधा रहेगी। चरने की प्रक्रिया मे व्यवधान नहीं आना चाहिए।

. अगली पंक्ति .

'च' से चमचे, 'चा' से चाट अर्थात् चाटना। यहाँ अध्यापक विभिन्न कहावतो के उदाहरण देकर बच्चों को समझाने की कोशिश करेगा कि किस प्रकार थूककर चाटना अस्वास्थ्यकर हो सकता है अथवा तलवे चाटने मे भी दूरदृष्टि आवश्यक है। कहीं लेने के देने न पड़ जायें !

'छ' मे छँटनी, 'छा' मे छापे, 'ज' से जहाज—राहत-सामग्री वाले, 'झ' मे झपट—पद, कुर्सी, हक।

'ञ' से कुछ नही बनता और जिनसे कुछ नही बनता-बिगड़ता, उनको कोई नही पूछता।

अगली पंक्ति :

'ट' से ट्वेंटी फर्स्ट सेन्चुरी। 'टा' मे टॉय-टॉय फिस्स।

'ठ' से ठोकर खाकर औंधे गिरना या फिर चारो खाने चित। (एक ही बात)

'ड' मे डमरू, 'ड' मे डफली, अपनी-अपनी, जिसपर अपना-अपना राग अलापते हैं लोग। 'ढ' मे ढोल—हो जिसमे पोल।

'त' मे तिल, 'ता' से ताड़। अध्यापक बच्चों को तिल से ताड़ बनाने वाले उद्योगों की बाबत जानकारी दे सकें तो अच्छा।

'थ' से थूकना (वापस चाटना उचित नहीं, यह चेतावनी पहले भी दी गयी थी लेकिन लोगबाग आदत से बाज नही आते, क्या कहा जाये!)। 'द' से दलना—छाती पर मूँग। 'द' से दगा या दल बदलने की क्रिया की भी व्याख्या की जा सकती है। अध्यापकों को स्मरण रखना चाहिए कि आज के बच्चे ही कल के विधायक हैं, अतः उनकी बुनियाद ठोस होनी चाहिए।

'ध' से धांधली—हर स्तर की। शिक्षक कृपया उदाहरण देकर बच्चों को समझायें। 'न' से नट, 'ना' से नाक (आज के संदर्भ मे जो कट गयी!)। 'प' से पुल या पुलिया, फिर पब्लिक वर्क्स। 'फ' मे फेस्टिवल ऑफ इंडिया। क्रियात्मक गृहकार्य के रूप में अध्यापक बच्चों को दूरदर्शन पर आदिवासी नृत्यों की झाँकियाँ देखने का निर्देश दें।

'व' मे वोफोर्स, 'वा' से बाढ़ (एक सामयिक, एक सनातन)।

'भ' से भरभष्ट अर्थात् भ्रष्टाचार। 'म' मे महाभ्रष्टाचार। इस तरह बच्चे जल्दी सीखेंगे।

'य' से याऽऽहू···ये देश है वीर जवानों का—घपलों का, काले कारनामों का··। 'र' से रथचक्र, बाकी तो चक्का जाम। 'ल' से और 'व' से अलग-अलग न बताकर एक साथ 'लव' बताने से बच्चे फौरन पकड लेंगे। शिक्षा में इस तरह के नये प्रयोग आवश्यक है। हमारे भविष्यद्रष्टा, सूक्ष्मदर्शी मनीषियों

ने इसीलिए सभवतः ये दोनों वर्ण आसपास रखे। साथ ही इसी सन्दर्भ मे हिन्दी वर्णमाला के साथ अंग्रेजी के गहरे सम्बन्ध की व्याख्या भी की जा सकती है। आगे—'श' से शराफत। अध्यापक कृपया 'शराफत छोड दी मैंने' वाला कैसेट बजाकर बच्चों को सुनायें।

'स' मे समाज, 'सा' से साहित्य—जिसमे समाज अपना मुँह देख-देखकर सिर धुनता रहता है। 'ह' से हाहाकार—दोहा पुराना ही कोट करे, थोड़ा सुधारकर—

हाहाकर मचाता बन्दर, कूद रहा लंका के अन्दर।

हे भगवान्! दिमाग की कूढमगजी देखिए, पहले अ-आ इ-ई की पहचान करानी तो भूल ही गयी। अभी हुई जाती है। आसान ही है—

'अ' से अमिताभ बच्चन—बच्चो को पहले से ही आता होगा। 'आ' मे आरोप—'आ' से आ बैल मुझे मार। 'इ' से इन्क्वायरी या फिर 'इ' से इस्तीफा। 'ई' (ट) से ईट बजाने के लिए। 'उ' से उल्लू या फिर पट्ठे—क्या फर्क पड़ता है! यहाँ बच्चो को यह बताना शिक्षक का कर्तव्य है कि इस शब्द (उल्लू) या इसके पट्ठे का प्रयोग सिर्फ वर्णमाला सीखने मे या फिर शायरी करने मे सीमित रखें, बाकी कही नही।

'ऊ' से ऊधो जाहु (गद्दी छोडकर) तुम्हे हम जाने···यह आजकल कोई भी किसी से भी, कभी भी कह सकता है।

'ए' से ए भाई! जरा देख के चलो—ऊपर ही नही, नीचे भी। 'ऐ' से ऐनक बिहारी की—(सन्दर्भ : दिये लोभ, चसका चखुन, लघु पुनि लख्यो बडाय···)

'ओ' से ओखली—पूरी तरह उपयुक्त, सिर्फ इसमें 'सिर दिया' जोड़कर।

'औ' से औरत ही हो सकती है—या फिर औरंगजेब।

'अं' से अंधेरनगरी—और 'अः' बड़ा चमत्कारी वर्ण है। इसकी सहायता से एक ही मुद्दे पर कुछ लोग वाह-वाह करने लगते है, कुछ लोग आह-आह···

तो मित्रो! सुधरी हुई, नये सन्दर्भोवाली वर्णमाला आप तथा आपके बाल-बच्चों की सेवा में प्रस्तुत है। जो कोई कोर-कसर, कमी-बेशी रह गयी हो, उसके लिए सुझावो, सम्मतियों का स्वागत है।

संदर्भ विरह-विकल वियोगिनी का

वाकया नायक के परदेस जाने का है। परदेस का नाम 'सुविधा' के लिए हरारे रख लीजिए। अब नायक परदेस में और नायिका विरहोन्माद में प्रलाप किये जा रही है। बावली-सी कभी सदेशवाहकों के शिष्ट-मंडलों को न्योत रही है, कभी प्रेस-कान्फेंस बुला रही है। और संदेशवाहक हैं कि इतिहास की अपनी दुर्गति याद करके मुँह चुराते घूम रहे हैं। इन वियोगिनियों का क्या ठिकाना। इलेक्शन के मारे उम्मीदवारों की तरह उन्माद और दैन्य के आखिरी पायदान पर रहने की वजह से जो जी में आया, बोल जाती है। दुर्गति तो मध्यस्थ या सदेशवाहक की होती है। एक झूठ को छुपाने के लिए हजार झूठ बोलने पड़ते हैं, ऊपर वालों की नाक और इज्जत साबुत रखने के लिए उन बेचारों को कहाँ होश रहता है कि कब क्या बोल गये! सो आप लोग भी अन्यथा न लेंगे, इस बेचारी वियोगिनी के बैनों का।

अब जैसे इस समय वर्षा ऋतु के बाद बोरिया-बिस्तर समेटकर जाते मेघों को संबोधित कर नायिका कहती है—

'हे मेघ! यह तुम कहाँ जा रहे हो? कहो तुम भी मेरे प्रियतम की तरह हरारे तो नहीं चल दिये? ऐसे ही मेरा प्रियतम भी मुझे कर्फ्यू-दंगे में रोती-बिलखती छोड़कर चला गया था।

'मुझे आज भी याद है। मैंने तो यों ही बादलों के बीच लुकते-छुपते चाँद को देखकर उनसे दुलराकर पूछा था (या समझ लो कि जैसे फौजी भाइयों के लिए एक फिल्मी नगमा पेश किया था) कि—

'देखो ऽ ओ ऽ ओ चाँद छुपकर करता है क्या इशारे ··

इसपर वह नटखट आँखे मारकर बोला था—

'शायद वो कह रहा है, हम जा रहे हरारे-ए-ए जा रहे हरारे'

'और वह सच्ची-मुच्ची में चल दिया, मुझे रोती-कलपती छोड़कर; मैं

उसे रोकती रह गयी कि भला इस जानलेवा माहौल और मौसम में, जबकि मेरी जान के लाले पड़े हैं, दम-पर-दम थ्रेटनिंग लेटर मिल रहे हैं, मुझे बी-ग्रेड बॉडी-गार्डों के सहारे छोड़, तुम कहाँ चले जा रहे हो? और फिर मुझे अपनी से ज्यादा तुम्हारी फिकर है। देखो, मेरा कहा मानो! आसार कयामत के है। जगह-जगह कर्फ्यू लग रहे हैं। जहाँ कर्फ्यू नही लग रहे, वहाँ भूकंप के झटके लग रहे हैं। *इन फसादों, गोली-बारूदों के बीच मुझे अकेली* छोड़ तुम कहाँ चले?···

'लेकिन प्रियतम शेष ससार के लिए ज्यादा ही उदास दीखा तो, नायिका ने उसे बहलाने-फुसलाने की कोशिश भी की कि—सोचकर देखो, तुम्हारे जाने से, कौन कहे कि दो बम कम फूटेंगे! अरे जितने फूटने होंगे, फूटेंगे! जहाँ फूटने होंगे, फूटेंगे। कोई किसी की सुनने वाला नही। वहाँ आकर सब-के-सब सधि-प्रस्तावों पर अंगूठे का निशान छापेंगे और वापस लौटकर अपनी-अपनी मुँडेर से अँगूठे दिखायेंगे, पतंग की तरह लड़ाकू विमान भिड़वाएँगे। तुम तो शांति-कपोत छोड़ोगे आकाश मे, वे जंगली कबूतरों से अपने पंख नुचवाकर वापस आ जाएँगे। एक कहेगा पहले तूने *किया, दूसरा कहेगा पहले तूने···और बस्तियाँ ताश के घरो की तरह ढहती* रहेंगी। किस-किस को समझाओगे तुम? और पिछले पच्चीस सालों से तो तुम्हारे दादा-परदादा तक समझाकर हार गये···बताओ कितना रोक पाये खून-खराबा?

'लेकिन निष्ठुर प्रियतम नही माना। उसने तो एक के बाद दूसरे हरारे जाना ही जाना था। सो चला गया। अच्छा ही हुआ, रुक जाता तो जोरू का गुलाम घोषित हो जाता। सो एक बहुत बडा खतरा टल गया, क्योंकि आजकल एक धर्मपति-पुरुष की मर्दानगी के सिर पर यह आसन्न संकट हर घड़ी टँगा रहता है, दुधारी तलवार की तरह, कि कहीं वह जोरू का गुलाम न घोषित हो जाये, विमेन-लिब की लकड़ी सूँघकर। सो प्रियतम अपनी *मर्दानगी की पगड़ी की लाज बचाता निकल भागा।'*

और नायिका बेकली में यहाँ-वहाँ हर आते-जाते से पूछती रही—'कहीं मेरे बनजारे को देखा है?' लोग कहते 'हाँ, देखा है, हरारे में।' नायिका पूछती—'क्या कर रहा है वहाँ?' लोग जवाब देते, 'इकतारा बजा रहा है

और काफी अच्छा बजा रहा है—लोग बाजा सुन-सुनकर झूम रहे है। वाहवाही दे रहे है।'

नायिका कुढ़कर कहती - 'अरे अभी आमने-सामने झूम रहे है, वापस जाकर अपनी-अपनी डफली पर अपना-अपना राग बजायेंगे। कवि-सम्मेलन के श्रोताओं की तरह ये सब भी बड़े चतुर हो गये है। ऊपर-ऊपर जोर से वाहवाही देकर बगल वाले को कोहनी मारकर मुस्कुरा लेंगे। वाहवाही का यह नया ट्रेंड आजकल बड़ा लोकप्रिय हो रहा है हर क्षेत्र मे। सो मेरी समझ से *तो यह इकतारा बजाना नही है, बल्कि भैंस के आगे बीन बजाना है।* इससे तो अच्छा था कि वह यही शांति-दिवस वगैरह मना लेता। यह काम आसान है और इंटरेस्टिंग भी। सुबह-सुबह सोते बच्चो को हड़कंप मचाकर जगा दिया और हाथों में ओम् शांति के झण्डे थमाकर सड़को पर दौड़ा दिया। बच्चे तो बच्चे, दौड़ लिये। उससे भी अच्छा आयोजन एक और था। शांति, सुरक्षा, ईमानदारी आदि शब्द अलग-अलग रंग-बिरंगे गुब्बारो, नही, *'बेलूनों' पर पेन्ट करवा दिये और उसी में बैठकर उड़ लिये*'' और हो गयी शांति की स्थापना ''''हाउ एडवेन्चरस एण्ड थ्रिलिंग ! नो ?

सो नायिका ने पथिको से कहलवाया कि मेरे बनजारे से कहना—'बहुत हुआ हरारे, अब लौट आओ। तुम्हारी राह तकते-तकते मेरी आँखे ही नहीं, खेत-खलिहान तक पथरा गये हैं। खड़ी की खड़ी फसलें सूखे से कड़कड़ा रही हैं, दूसरी तरफ 'सदा रहत पावस ऋतु हम पर जब से स्याम सिधारे' *की तरह गाँव-के-गाँव बाढ़ में डुबकियाँ खा रहे हैं और ये तुम्हारे गुमाश्ते,* कारकुन, अपनी लगान-वसूली मे ही मस्त है। 'संइयाँ गए परदेस अब डर काहे का !' उन्हें कहाँ फिकर कि मेरी झोपड़ी में साँझ का चूल्हा जला कि नही''मेरे बच्चो के पेट मे अनाज के दाने पड़े या नही ! खेल-कूद की मशालें जलाना बुरा नही, लेकिन उससे पहले घरों मे चूल्हे जलने जरूरी है। बच्चे खायेंगे नही तो खेलेंगे क्या ? और एक बात कि तुम जो आम के पौधो का वृक्षारोपण करके गये थे, उन्हें उखाडकर ये आक, मदार कौन लगाता जाता है ? तुम्हारी रोपी सुगन्धित क्यारियों में प्रदूषण कौन फैलाता है ? सो यह सब पता करना भी तो जरूरी है।'''

'इसलिए बहुत हुआ, अब आओ। यो यहाँ मनोरंजन, मन-बहलाव के

सारे साधन सुलभ हैं। जब चाहूँ, रेडियो ऑन कर फौजी भाइयों के मनोरंजन के लिए पेश किये जाने वाले प्रेम, रोमांस-भरे तमाम फिल्मी नगमे सुन सकती हूँ आठों प्रहर ; लेकिन इन फिल्मी नगमों में 'सितारे, नजारे, हमारे-तुम्हारे वगैरह' सुन-सुनकर हरारे ही याद आ जाता है। प्रियतम ! अब तो सावन के अंधे की तरह मुझे हर 'रे' में हरारे ही सुनायी पड़ता है। विरह-विकल जो ठहरी !

'इसलिए आओ अब ! और कब तक दूरदर्शन पर देख-देखकर दिल को तसल्ली देती रहूँ ? सुबह-शाम देर-सवेर, हमेशा ही तो देखती हूँ, पर मन कहाँ भरता है ? टी० वी० बन्द होते ही वापस चालू करने की जिद मचाने लगती हूँ। सखियाँ लाख समझाती हैं कि अभी इतने समय तक विज्ञापन आयेंगे, लेकिन मैं अपनी जिद पे अड़ी रहती हूँ। अब क्या कहूँ ! मेरी दशा तो इस समय वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से भी बदतर हो गयी है। घर वाले परेशान होकर एक-दूसरे से इन शब्दों में व्यक्त करते हैं कि—

'एक तो ये मुई शिक्षा-प्रणाली और दूसरे ये वियोगिनी की बच्ची— ये दोनों रेगिस्तान के ऊँट की तरह कब किस करवट बैठेंगे, समझ में नहीं आता !...'

'प्रियतम ! एक बात और बताओ। आखिर तुम्हें निष्ठुरता का कीर्तिमान स्थापित करने की ऐसी भी क्या धुन चढ़ी है ? लगता है, तुम सिओल के बाद ज्यादा ही फ्रस्ट्रेटेड हो रहे हो। छोड़ो भी, हमारी तो परम्परा ही है हारने की। हमेशा दूसरों को जिताने की। कुछ सोच-समझकर ही तो हमने यह सुविधा-जीवी परम्परा चुनी है ! फिर मलाल काहे का ?...

'अब तो मेघ भी बढ़े हुए एयर टिकेट की रेट लागू होने से पहले खिसक लिये। फिर भी चैत्र के चाँद के साथ यह सदेशा भेजती हूँ—

चदा रे, जा रे जा रे हरारे—' ▭

मेरा टॉमी बनाम फिल्म स्टार

टॉमी मेरा बड़ा प्यारा कुत्ता है। रूप-रंग, कद-काठी मे लाखों में एक, और पीछे हमेशा ही टेढ़ी रहने वाली क्यूटसी दुम। मेरे पति के मित्रों का कहना है कि वे जब कभी टॉमी की इस टेढ़ी दुम की ओर देखते हैं, उन्हें अपनी पत्नियाँ याद आ जाती हैं। बहरहाल इस 'क्यूट' दुम को हिलाने में वह इलेक्शन-टाइम के बड़े-बड़े नेताओं को मात करता है। भौंकने का भूत जब सवार होता है उसे, तब हर बार एक विश्व-रिकॉर्ड स्थापित करके ही दम लेता है। भौंकने की ऐसी कोशिश और दुम हिलाने की ऐसी अदा बहुत कम ही कुत्तों में पायी जाती है—इन्सानों मे हो, तो हो!

सम्भवत. टॉमी के इन्हीं गुण-विशेषों से प्रभावित होकर, मैंने सोच लिया है कि उसकी 'लुक' और 'टेलेंट' में से किसी को भी व्यर्थ नहीं जाने देना है। और इस 'लुक' और 'टेलेंट' का ज्यादा-से-ज्यादा और सही-से-सही इस्तेमाल फिल्म-संसार ही कर सकता है, इसलिए उसे फिल्मों मे भेजना ही है। यहाँ एक बात और भी बता दूँ आप लोगों को कि इसे मजाक मत समझ लीजिएगा—मेरे निश्चय के पीछे ठोस कारण यानी 'सॉलिड रीजन' है और हम और टॉमी जिस बात का निश्चय कर लेते हैं, उसे पाकर ही रहते हैं। और जहाँ तक टॉमी के फिल्मों में प्रवेश की बात है, यह काम तो हम चुटकी बजाते ही कर लेंगे ··सिर्फ टॉमी को किसी भी सजे-सजाये सेट के पास ले जाकर 'लूऽऽश' करने-भर की देर है।

यों फिल्मों के इतिहास मे यह कोई अजीबोगरीब बात नहीं होगी। 'गाय और गौरी', 'हाथी मेरे साथी' और 'नाग देवताओं' से ड्योढ़ा ही बैठेगा मेरा टॉमी। शीर्षक की दृष्टि से 'टॉमी और स्वामी' या 'टॉम बनाम गुलफाम' जैसे शीर्षक रातों-रात पब्लिसिटी की कंचनजंघा पर पहुँचकर जुबलियों के रिकॉर्ड तोड़कर चकनाचूर कर देंगे। 'टॉमी मेरे स्वामी' जैसे

शीर्षक भारतीय संस्कृति के अनुरूप है तो 'टॉम बनाम गुलफाम' आधुनिकता के प्रतीक। और अगर निर्माता-निर्देशक ज्यादा बोल्ड और रियेलिस्टिक किस्म का शीर्षक चाहते है तो 'टॉमी बड़ा हरामी' या 'टॉमी की नमक-हरामी' जैसे शीर्षक पूर्ण उपयुक्त होंगे।

इसलिए जहाँ तक 'एण्ट्री' का सवाल है, टॉमी का रास्ता साफ है, कोई अड़चन नही। फिगर की दृष्टि से बेजोड़ है वह। मुझे पक्का विश्वास है कि तमाम रंगपुते अधेड़ थुलथुल एक्टरों की छुट्टी कर देगा वह। पतला, छरहरा, बला का फुर्तीला और गबरू जवान···भला और क्या चाहिए फिल्म वालों को? बहादुर इतना कि 'डमी' रखने की जरूरत ही नही। विलेन तो क्या, उसके बाप तक टॉमी को देखकर अपनी खैर मनाएँगे। लू' श करते ही गुर्राकर ऐसे झपटता है कि बड़े-बड़े हीरो तक की घिग्घी बँध जाए। मैंने इधर की कई फिल्में देखी हैं 'नये आने वाले लडको मे वह दमखम कहाँ जी, जो टॉमी में है? कुत्तो मे हो तो हो!

रही 'लव-सीन' की बात, तो मुझे लगता है कि कोई भी समझदार यानी कि 'मैच्योर' हीरोइन किसी दुमकटे हीरो की जगह दुमदार कुत्ते के आगे-पीछे दौडना, उछलना-कूदना ज्यादा पसन्द करेगी। कल्पना कीजिए कि 'लव-सांग' गाती हुई किसी हीरोइन के साथ उछल-कूद करते हुए बन्दर-नुमा हीरो की जगह गम्भीर, शालीन, कुत्ता कान झुलाता दौड-भाग कर रहा है, तो यह चेंज आपकी आँखों को तरावट नही देगा? फिर आजकल की हीरोइनें इतने संकीर्ण दृष्टिकोण वाली होती भी नही। उनके दिल-दिमाग पूरी तरह खुले हुए होते है, उनके जिस्म की तरह ही। और फिर अगर उन्हें पैसे पूरे मिलते है, तो उनके पीछे हीरो दुम हिलाता है या कुत्ता··· क्या फर्क पड़ता है? और सबसे बड़ी बात, यदि फिल्म की कहानी का प्रेम सफल रहा और उसकी परिणति विवाह में हुई तो पति-रूप में टॉमी जैसा दुम हिलाने वाला पति किसी हीरोइन को न यथार्थ में मिलेगा, न सपने मे—तो सैट पर ही सही!

उससे भी बड़ी बात यह होगी कि सेंसर तक से निजात मिलेगी। टॉमी के साथ हीरोइन के एक नही, दस चुम्बन फिल्माइए और सेंसर बोर्ड के सीने पर आराम से मूँग दलिए!

गाना तो वैसे भी हीरो नहीं गाते ! प्लेबैक चलता है। और मेरी समझ से अधिकांश आधुनिक धुनों और आवाजों के प्लेबैक मेरे टॉमी की आवाज के साथ ज्यादा ही सूट करेंगे। पब्लिक के लिए भी यह एक खुशनुमा चेंज रहेगा और थोड़ी देर का सस्पेंस भी, कि--यह कुत्ते की आवाज में आदमी गा रहा है या आदमी की आवाज में कुत्ता ?

और अगर प्रोड्यूसर, डायरेक्टर अपनी फिल्मों में डिस्को एटी एट जैसी चीज फिल्माना चाहते हैं तो उसके लिए भी टॉमी को लेकर उन्हें निराश नहीं होना पड़ेगा, बल्कि सच-सच कहें तो कितनी ही बार ऐसा हुआ है कि फिल्मों में डिस्को इत्यादि के सेटों पर नायकों-नायिकाओं और उनके झुण्ड को तेज-तेज मटकते-झटकते और कूल्हे हिलाते देखकर अक्सर मेरे मन में खयाल आया है कि अगर, इनके दुमें भी होती तो कितना अच्छा होता ! टॉमी फिल्मों की इस जबरदस्त कमी और मेरी जबरदस्त महत्त्वाकांक्षा को एक साथ पूरा करेगा।

डायलॉग बोलने में भी परेशानी नहीं होगी। कितने ही प्रतिशत अहिन्दी-भाषी और हिन्दी-भाषी अभिनेता-अभिनेत्रियाँ तक आखिर डबिंग के भरोसे ही तो एक्टिंग करते हैं ? तो टॉमी क्यों नहीं ? और जैसा कि हर फिल्म में होता है, बदमाशों के जबड़े तोड़ने और स्मगलिंग के छुपे हुए अड्डे का पता लगाने में तो टॉमी वह फुर्ती दिखाएगा कि दर्शक दाँतों-तले अँगुली दबा लें। मेरी समझ में यह दृश्य कहीं ज्यादा रियेलिस्टिक होगा, क्योंकि यह एक मानी हुई बात है कि कुत्ता आदमी से कहीं ज्यादा बहादुर और वफादार होता है।

मैंने अक्सर पब्लिक को आपस में कहते सुना है कि बताओ जरा, एक कनखजूरा-सा हीरो इतने बदमाशों पर एक साथ कैसे झपट सकता है ? किसी अकेले आदमी का दस-दस छुरे वालों के बीच में कूदना बला की बेवकूफी नहीं तो और क्या है ? लेकिन अगर ऐसे दृश्यों में आदमी के बजाय कुत्ता दस बदमाशों पर लपके तो वह हर्गिज हास्यास्पद नहीं लगेगा।

दिक्कत सिर्फ एक है, जो मैं समझती हूँ कि अपने-आपमें सबसे ठोस दिक्कत है और वह है टॉमी का हमेशा चार पैरों पर ही चलना; यही बात शायद दर्शकों को अखर सकती है। लेकिन इस मुद्दे पर मेरी भी एक दलील

है। पब्लिक आखिर दो पैरों वाले बहुत-से 'हीरोज' का एकदम चौपायों सरीखा ही उछलना-कूदना, कलामुण्डी खाना, लुढ़कना आदि गवारा करती है या नहीं ? तो जिस पब्लिक ने उतना सब बर्दाश्त कर लिया, वही पब्लिक या उसके बाल-बच्चों को किसी बेचारे चौपाये का चार पैरों पे चलना क्यों नहीं बर्दाश्त होगा साहब ? और फिर सबसे बड़ी बात, जब हमने पब्लिक को अखरने वाली बड़ी-बड़ी बातों की परवाह नहीं की तब जरा-से दो पैरों और चार पैरों से चलने वाले मसले को इतना तूल क्यों दिया जाए ? दो और चार पैरों में फर्क करने वाली संकीर्णता हमारी इण्डस्ट्री ने आज नहीं, सालों पहले से भुला रखी है।

देख लीजिएगा, उन चार पैरों से ही टॉमी शूटिंग के लिए हमेशा सही टाइम पर पहुँचेगा। डाइरेक्टर को इससे कभी कोई शिकायत नहीं होगी, यह जिम्मा मेरा ! मेकअप-मैन उसे आदमी जैसा दिखाये या कुत्ते जैसा, कोई फर्क नहीं—खाना सिर्फ दूध-रोटी या हीरोइन के खाने से बची हुई बोटियाँ। सिर्फ भौंकना अपनी मर्जी से तो जहाँ और-और हीरो-हीरोइनों के इतने नाज-नखरे उठाये जाते हैं, एक शालीन कुत्ते को निर्माता-निर्देशक इतनी भी छूट नहीं दे सकते ? मुझे विश्वास है कि वे छूट देंगे। इसी विश्वास के साथ मैं टॉमी को फिल्म-इण्डस्ट्री को समर्पित करती हूँ।…

जागा रे जागा, कस्बा अभागा

कस्वा कहने के साथ ही हमारे सामने सबसे पहले जो चित्र उपस्थित होता है, वह धोबी के कुत्ते का होता है। कहावत क्या, हकीकत है कि धोबी का कुत्ता न घर का, न घाट का। बस, ठीक यही स्थिति हमारे कस्बे की है। स्मरण रहे, धोबी का कुत्ता, धोवी के गधे से भी बदतर जीव होता है, क्योंकि उसकी कोई वाजिब शख्सियत, कोई औकात ही नहीं हुआ करती। लोक-मान्यताओं के बीच एक यही अपवादी स्थिति होती है, जब गधा कुत्ते से बाजी मार ले जाता है। इसके लिए उसे सही मायने में धोबी का ऋणी होना चाहिए।

बहरहाल, वह गधे के दायित्व-बोध का सवाल है और दायित्व-बोध शब्द अपने-आपमें गधे की लादी से कुछ कम भारी नहीं, और हम तो वैसे भी इस समय धोबी के कुत्ते और अपने कस्बे में पायी जाने वाली समानताओं का आकलन कर रहे थे। एक तरह से इसे दो गुमशुदा अस्तित्वों का फलसफा कहा जा सकता है।

तो कस्वा बेचारा न शहर का हो पाता है, न गाँव का। शहरी तौर-तरीके अपनाने की कोशिश करता है तो लोग-बाग हँसते हैं, "देखो जरा इस कस्बे के बच्चे को! कल तक मुँह पर मक्खियाँ भिनभिनाती थीं (वैसे वे तो आज भी भिनभिनाती हैं) आज ब्यूटी पार्लर खोले बैठा है!" और अगर गाँव की तरह जस-का-तस बने रहने की कोशिश करता है तो लोग ताने देते हैं—अरे यह रहेगा कस्बे का कस्बा ही, चाहे लाख कोशिश करो सुधारने की इसे। तुलसीदास जी ने कहा है न—

फूलहि फलहि न बेंत
जदपि सुधा बरसहि जलद—

तो यह बेंत है बेंत! चाहे प्रगति का कितना ही चारा डालो, 'सूत्रों' की कितनी ही मूसलाधार वृष्टि करो, यह मूरख नहीं चेतने वाला। इसमें पूछो, यही मातमी शक्ल लेकर जाने वाला है इक्कीसवीं शताब्दी में? भला लोग क्या कहेंगे? यही न कि भइये, इक्कीसवीं शताब्दी तो बीसवीं से भी गयी-

गुजरी निकली। इसका क्या जायेगा! नाक तो हमारे देश की कटेगी! न, इस तरह नही ले जाना है इसे। पहले इस फटीचर की कायापलट करो।

इस वजह से तय हुआ कि कस्बे का उद्धार होना ही चाहिए। इसे घर या घाट, एक जगह बाकायदा सैटिल करना ही होगा। सो सब तरक्कीपसन्द लोग ताल ठोककर कस्बे के मैदान मे उतर आओ, और इसके कान मरोड़-कर प्रगति करवाओ। इसे सभ्य बनाओ, जिससे यह चार अक्षर सीखकर भले मानुषों की कतार में उठ-बैठ सके।

बस फिर क्या था! कस्बे के उद्धार की खबर सुनते ही चारो तरफ से शिव की बारात की तरह चढ़ि-चढि वाहन चले बराता"

तो आओ नेताओ, आओ अभिनेताओ, ठेकेदारो और थाना, पुलिस, चौकीदारो, चोर-उचक्को और लफगो, म्यूनिसिपेल्टियो और कारपोरेशनो! अपनी-अपनी जीपो मे तरक्की का हॉर्न बजाते हुए आओ, क्योकि—

"कस्वा बुला रहा है तुम्हें हाथ जोड़कर" "

कि आओ और इस ऊँघते कस्बे का उद्धार करो! पार्टियाँ बनाओ, झण्डियाँ गाड़ो, चुनाव लड़ो, सड़कें उखाड़ो। पिक्चर हॉलो मे टिकट ब्लैक कराओ। पनघट पर छापा मारो। तमंचे और बन्दूकें जुटाओ। कारखानों की चिमनियो से इतना प्रदूषण फैलाओ कि पूरा कस्बा साँस लेने को तरस जाए। साँस लेने में तकलीफ होगी तो पूरा कस्बा आप-से-आप आँखे खोल देगा, चाहे फिर हमेशा के लिए आँखे बन्द ही क्यो न कर देनी पड़े।

जी हाँ, बधाई हो! मुबारक हो! कस्बा जग गया। कस्बा प्रगति कर गया। चारो ओर खुशहाली छा गयी। सड़कें उखड गयी। नल के बम्बे गड़ गये। क्या कहा? पानी नही आता? पानी शहरो मे भी कहाँ आता है? अच्छा-अच्छा, एकाध जगह पानी आता भी है तो उसका रग पता नही कैसा होता है? तो क्या? जाकर अपने कस्बों में खुले नये-नये सिनेमा हॉल में देखो। पिक्चर की हीरोइन भी यही गाती मिलेगी कि—

"पानी रे पानी तेरा रंग कैसा…?"

अब तुम अकल के दुश्मनो, हमे यह तो मत सिखाओ कि जिस तरह *जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है*, उसी तरह जहाँ-जहाँ नल लगे हो, वहाँ-वहाँ पानी भी होना चाहिए। देखो, एक युग का सच, दूसरे

युग में गलत भी तो साबित हो सकता है न ? और फिर ये नयी चुनौतियाँ हैं, इन्हें स्वीकारो ! समझ गये न ?

अच्छा अब तुममें से एक-दो समझदार लोग जरा आगे आओ और इस प्रगति और तरक्की की लिस्ट से जो-जो पूछा जाए उसे मिलाते जाओ। तो तैयार ?

"जी, हुकुम ?"

"सड़कें खुदी ?"

"जी, खुदी।"

"सड़कें पटी ?"

"जी नहीं।"

"कोई बात नहीं, पाटने का काम अगली परियोजना में। यह बताओ कि बम्बे लगे ?"

"जी लगे, लेकिन पानी नहीं आता।"

"ठीक है, अगली सदी में। अच्छा बिजली के खम्भे गड़े ?"

"जी गड़े, लेकिन "

"चोप्प ! जितना पूछा जाए उतना ही जवाब दो। हर जवाब में पुछल्ले लगा रहा है। हाँ, पिक्चर हॉल खुले ?"

"जी, खुले।"

"कौन-सी पिक्चर चल रही है ?"

"जी, दगाबाज।"

"वैरी गुड ! कारखाने खुले ?"

"जी, खुले।"

"गैस रिसी ?"

"जी, हर दिन रिसती है।"

"तुम्हारे हिसाब से भोपाल का रिकॉर्ड कब तक टूट सकेगा ?"

"जी, अगली सदी से पहले ही।"

"अच्छा, डाके पड़े ?"

"जी, पड़े।"

"बैंक लुटे ?"

"जी, लुटे।"

"साक्षरता बढ़ी ?"

"जी, बढ़ी।"

"चेतना जगी ?"

"जी, जगी न।"

"कैसे ?"

"आप ही जैसे आये थे, जगा गये। तभी तो दंगे हुए।"

"अरे ! दंगे हो चुके ? कब ?"

"पिछले ही महीने···कर्फ्यू भी लग चुके।"

"अरे ! तुम लोग कर्फ्यू भी जानते हो ?"

"वाह ! क्यों नही जानेंगे ? हम जाग जो गये अब ! अब जिन्दगी-भर जाहिल-के-जाहिल थोड़े ही रहेंगे। इतने दिनो हम सोये रहे। न दंगे कर पाये, न कर्फ्यू लगवा पाये। जागरण की एक भी मिसाल तो नही पेश कर पाये थे अपने देश के सामने। इसलिए हमने शहर वालों से पूछा—शहरों में क्या होता है ? वे बोले—बलवा, फसाद और दंगे होते हैं। बस हमने भी कमर कस ली कि हमारे इलाके में भी दंगे होंगे। फिर पता लगाया, उसके बाद क्या होता है ? पता चला कर्फ्यू लगते हैं। तो जी, फिर हम भी कर्फ्यू लगवायेंगे। नल लगें चाहे न लगें, कर्फ्यू जरूर लगेंगे, ताकि हमारा नाम भी और-और शहरों की तरह अखबारों की सुर्खियों मे आ जाए, सो आ गए··· आप सबकी कृपा से।"

"अच्छा तो साराश यह निकला कि आप सब तरक्की की चोटी पर पहुँच गए है न ?"

"चोटी ? चोटी-वोटी हम कुछ नही जानते। हमारे यहाँ तरक्की की चोटी नहीं, तरक्की की खायी जरूर है जिसे सब तरक्कीपसन्द लोगो ने मिलकर खोदा है और खोद-खादकर पर्यटन विभाग के सिपुर्द कर दिया है, जिससे दूर-दूर से टूरिस्ट आएँ और तरक्की की इस खायी की शोभा देखें। आप भी चाहे तो चलकर देख सकते है।

"और हाँ, तरक्की की चोटी पर किस कस्बे को ले गए है आप ? हमे भी चलकर दिखाइए न !"

क्रिकेट कुण्ठा और खुदकुशी की समस्या

जी हाँ, कुआँ खुदवा रहे हैं, पिछवाड़े ! खुदकुशी करने वालों की सहूलियत के लिए। वो टाउनहॉल वाले पार्क की झील बहुत छोटी पड़ती थी, बहुत दूर भी, इस इलाके के बेकार युवकों और दहेज की मारी बहुओं के लिए'''लेकिन लोगों का कहना है कि कुएँ से काम न चलेगा। खुदकुशी करने वालों की जमात में अब क्रिकेट के खेल-प्रेमी दर्शक भी तो शामिल हो गये है न !

अब अगर एक साथ पाँच, दस, पन्द्रह हजार दर्शक खुदकुशी करना चाहें तो कहाँ जायेंगे बेचारे !(ज्ञातव्य है कि इस सूची मे दूरदर्शन पर क्रिकेट देखने वालों को जान-बूझकर नही शामिल किया गया है, क्योंकि आशा ही नही, पूरा विश्वास है कि उन्हे समझा-बुझाकर, बीबी-बच्चो से भरे-पूरे परिवार की कंगाली का तकाजा देकर रोका जा सकता है। यह भी कि भाई मेरे, यह जान बड़ी नेमत है। इसे बाकी के टी०वी० सीरियल देखने के लिए सँभालकर रखो) तो कोई माकूल जगह होनी चाहिए कि नही? और जहाँ तक उम्मीद है, अपने देश की जनसंख्या की तरह, अपने देश का क्रिकेट देखकर खुदकुशी करने वालों की जनसंख्या भी बढ़ती ही जायेगी। लोग आखिर सैंकड़ों, हजारों के टिकट खरीदते है, तो किसलिए ? इसीलिए न कि हार की शर्मिन्दगी पर छलांग लगाने के लिए ऐन मौके पर कुएँ-बावडी तलाशने मे वक्त बरबाद न करना पड़े। ये चीजें तो यथेष्ट मात्रा मे पहले से ही तैयार होनी चाहिएँ। पता नही इन बातों की ओर सरकार का ध्यान कब जायेगा ?

वही हाल है कि जब आग लगती है तो कुआँ खोदने लगते है। जब हार जाते हैं तो कुएँ-पोखर तलाशने लगते हैं। गलत बात है। अरे भई, अनुभव मे सबक लो ! पहले से तैयारी रखो ! कोई नये नौसिखुए दर्शक तो हो नही कि मालूम नही, हारेंगे कि जीतेंगे। इतने मैच देख चुके—बम्बई, कलकत्ता,

बैंगलोर, मद्रास—और अब तो माशाअल्ला शरजाह से भी घावों पर नमक छिड़कने का न्यौता आया; बुलाया ही करे है। तो इतना तो मालूम रहता है कि "सजन रे हार जाना है"—इस बार भी, बात सिर्फ कितनी इनिंग्स, या विकेट की रहती है और जैसी रहती है, उसे देखकर बीचों-बीच पेवेलियन में अक्सर आसमान की तरफ उँगली उठाकर यह कहने को दिल चाहता है कि "हे प्रभु ! इन्हें क्षमा कर ! ये नहीं जानते कि ये क्या खेल रहे है, कैसा खेल रहे हैं।"

और-और टीमों के खेलों में कभी हार, कभी जीत होती है। हिन्दुस्तानी टीम के खेलों में हमेशा हार ही रहती है। यह हमारी खेल-भावना का दूसरा नाम है। चाहे क्रिकेट हो, हॉकी या फुटबाल, हार-ही-हार बेमिसाल। हमारे नये शब्दकोषों में देखेंगे तो खेल-भावना का सशोधित अर्थ हार-भावना ही लिखा मिलेगा। मुझे तो लगता है, हिन्दुस्तान में क्रिकेट मैचों की जबरदस्त बढ़ोतरी के पीछे एक सुनियोजित प्लानिंग है—फैमिली प्लानिंग से कहीं ज्यादा कारगर। जितने ज्यादा लोग मैच देखेंगे, उतने ज्यादा लोग मरेंगे। कुछ कुएँ, बावड़ी, कुछ वहीं-के-वहीं, ऑन द स्पॉट, शर्म से पानी-पानी होकर। इस तरह जनसंख्या-उन्मूलन में क्रिकेट के योगदान की महती भूमिका को राष्ट्र हर्गिज-हर्गिज विस्मृत नहीं कर पायेगा, क्योंकि दर्शकों द्वारा यह स्वेच्छा से किया गया योगदान होगा और इस प्रकार की खुदकुशी को कानूनन जायज ठहराया जायेगा। जिन्दा रहकर देश के लिए जो कुछ कर पायेंगे, मरकर उससे कहीं ज्यादा। सही मायने में देश के काम आयेंगे वे। यही बात देश के लिए भी लागू होती है। क्योंकि देश भी, उसकी दया पर जिंदा रहने वालों से कहीं ज्यादा इज्जत, आबरू और शान उसपर मरने वालों को बख्शता है।

मतलब वहीं, कुएँ से काम न चलेगा। सैंकड़ों-हजारों के सीजन और हवाई टिकट खरीदकर हिन्दुस्तानी क्रिकेट की हार पर मरने वालों के लिए सिर्फ पिछवाड़े का कुआं? लानत है! इससे तो चुल्लू-भर पानी ही बेहतर रहा न!

यूँ क्रिकेट की कुंठा और संत्रास के मारे बेचारे क्रिकेट-प्रेमियों के पास ज्यादा च्वाइस है ही कहाँ? क्या तो कुआं और क्या तो खाई, उसे क्या फर्क

पड़ता है ! लेकिन हमारा तो फर्ज बनता है कि उसके लिए एक भव्य, शानदार खुदकुशी की व्यवस्था तो कर सकें। वे दीवाने जो बिजनेस-वट्टे को ताक पे रखकर, बीवी-बच्चों की मलामतें सहकर, हजार तरह के जोखम उठाकर शेर की तरह आते हैं, हार जाने के बाद किस तरह दबी दुम, दबे पाँव निकल भागते हैं, इस पैवेलियन से, यह तो जिन देखा तिन ही जानिया।

बहुत मलाल होता है तब ! आह ! इन क्रिकेट के दीवानों को शानदार खेल न दिखा सके। क्या करते, यह हमारे वश में न था, उनकी किस्मत में न था। कुल मिलाकर 'न ये थी हमारी किस्मत....' और उनकी किस्मत में तो हार के हादसे हादसों की शृंखलाएँ ही लिखी थीं। न देखे चैन पड़ता है, न बिन देखे। क्या करते वे, क्या करते हम ? न क्रिकेट बोर्ड अपने हाथ में है, न टीमों के चुनाव।

फिर भी इस सकट की घड़ी में, इस अग्नि-परीक्षा के सैमेस्टर में उन्हें अपना धीरज नहीं खोना है। बड़े साहस और जीवट के साथ इसका सामना करना है। क्योंकि निश्चित रूप से इसके पीछे कुछ विदेशी ताकतों और साजिशों का हाथ है, जिसकी वजह से हमारी टीमें सही खेल का प्रदर्शन नहीं कर पा रही। हमें उन ताकतों के प्रति भी सतर्क रहना है तथा धैर्यपूर्वक इसी तरह हार के हादसों को सहते जाना है।

और जब धीरज जवाब दे जाये तो कुएँ-बावड़ी जो भी सहूलियतें हमारे पास हैं, हम उन्हें लेकर दर्शकों की सेवा में हाजिर हैं। इसके सिवाय और हम कर भी क्या सकते हैं ?

सामना : यमराज से

'नारीमुक्ति' पर विचारोत्तेजक गोष्ठी थी, नगर की बुद्धिजीवी महिलाओं की, शाम पाँच बजे से। सो मैं साढ़े तीन बजे से ही तैयारी में जुटी थी ड्रेसिंग टेबल के सामने।

तभी पति हड़बड़ाते हुए आकर बोले थे—'वे ''वे ' आ गये !'

दरअसल एक अव्यावसायिक, लघु पत्रिका के संपादक पति को अक्सर घेर-घार कुछ सत्यकथा टाइप उनलवाने के फिराक में रहते थे। उन्हें देखते ही पति नरवस हो जाया करते थे। अतः मैंने चौंककर पूछा, 'कौन ? वही लघु पत्रिका वाले ?'

पति फिर हकलाये—'अरे वो नहीं वो यमराज !'

'यमराज ?''झूठ !' अब मेरी भी बिन्दी टेढ़ी होने लगी थी।

'झूठ ?' पति ताव खा गये—'तो खुद चलकर देख लो—बाहर उनका वाहन भैंसा खड़ा पागुर कर रहा है।'

मैंने अपनी घबराहट पर काबू पाते हुए कहा—'तो मुझसे क्या कहने आये हैं ? जाइए, आप ही उनसे निपट लीजिए न !'

पति अपनी जान छुड़ाने की फिक्र में थे—'क्या मैं निपटूं ? वे'' वे तो सीधे-सीधे तुम्हारे पास ही आये हैं !'

अब मैं चिहुँकी—'मेरे पास ? मुझसे भला क्या काम हो सकता है उन्हें ?'

पति ने मेरे भोलेपन पर तरस खाकर कहा—'यमराज भला क्यों किसी के पास जाते हैं ?'

अब तो मेरी घिग्घी बँध गयी। पति बड़े सयानेपन से समझाने लगे—'घबड़ाने से कैसे काम चलेगा ? और फिर एक दिन तो जाना ही है ''तो, मेरी समझ से चली ही जाओ !'

मैंने गुस्से से उन्हें घूरते हुए कहा—'क्या मतलब ?...तब तो हरगिज नही जाऊँगी !'

तब तक बाहर से एक कड़कदार आवाज आयी—'अभी कितनी देर है ?—कह दीजिए जल्दी करें। मुझे इतनी देर तक इंतजार करने की आदत नहीं।'

पति हड़बड़ाते हुए भागे। मैं जल्दी-जल्दी तिरियाचरित्र वाला श्लोक याद करने लगी, साथ ही सती सावित्री की कहानी भी। प्राण...प्राण सबके एक जैसे। सावित्री ने चतुराई से पति के प्राणों की भीख माँगी थी। मैं अपने पति से, अपने प्राणो की भीख मँगवाऊँगी। पर पति तैयार हों तब तो ! वो तो यमराज की मिजाजपुर्सी की भाग-दौड़ मे लगे थे। बाहर से आवाज आ रही थी—'बैठो महाराज ! अब आये हो तो कुछ चाय-पानी कर लो। भैंसे को भी फ्रिज से कुछ पालक-चौलाई डाले देता हूँ—जुगाली करेगा...।'

(अब तक यह साबित हो चुका था कि वे खुद यमराज को लौटाना नही चाहते थे।)

लेकिन यमराज बेहद जल्दी मे थे, वहीं से फिर कड़के—'जल्दी कीजिए, मुझे इतना समय नही।'

मैं अब तक अपना दिल कड़ा कर चुकी थी—इतराकर बोली—'बस, जरा लिपस्टिक डार्क कर लूँ।'

यमराज गुस्से मे तिलमिला उठे—'अजीब औरत है !' फिर पति से गरजकर बोले—'जाकर देखिए, कितनी देर है ? मैं और इंतजार नहीं कर सकता।'

पति गिड़गिड़ाये—'क्या देखूँ महाराज ! शीशे के सामने से हट ही नही रही है आधा-पौना घंटा तो लगायेगी ही। अरे, मुझसे पूछिए—कितनी ट्रेनें छूटी है, कितनी पिक्चरों के शो 'मिस' हुए है, कितनी बार बॉस की घुड़की खायी है मुअत्तल होते-होते बचा हूँ—इस औरत के पीछे। खुद भी देर करेगी और मुझे भी लेट करायेगी।' फिर यमराज को अपने कॉनफिडेंस मे लेते हुए पास सरककर फुसफुसाये—

'एक बात मानोगे महाराज ?'

यमराज चाय-नाश्ते के संकोच में थे, बोले—कहिये !'

पति और धीरे से, और पास सरककर फुसफुसाये—

'यह इतनी आसानी से मेरा पल्ला नहीं छोड़नेवाली महाराज ! आपको भी चरका पढा देगी। बड़ी हठी है, और चालाक भी। आप कहे तो मैं कुछ तरकीब सुझाऊँ। लेकिन कसम है आपको आपके वाहन की ! बगैर उसे लिये न जाइएगा। एक बार आस दिलाकर निराश न कीजिये नाथ !'

यमराज चिढ गये—'मजाक करते हैं ? लेकिन वे हैं कहाँ ? मैं खुद उनकी खबर लेता हूँ।' और सीधे मेरे बेड-रूम के दरवाजे पर आकर गरजे —'मुझे भी अपना पति समझ रखा है क्या कि घण्टों इंतजार करता रहूँगा ? मेरे पास इतना टाइम नहीं।'

मैंने जूड़े मे पिन खोसते हुए कहा—'क्यो ? क्या सारे व्यंग्यकारों को आज ही यमलोक ले चल रहे है ?

'बकवास बन्द कीजिए ! आप सीधे से चलती हैं या नही ?'

अब मैं भी रोष में आ गयी—'यमलोक मे क्या जरा भी एटीकेट नही महाराज ? घड़घड़ाते हुए मेरे बेडरूम मे चले आये ! अभी यही शोर मचाकर थाना, पुलिस बुला सकती हूँ। सलीके से बैठक मे बैठिये, मेरे पति भी वही हैं। हाँ, एक बात और, बुरा न मानिए तो एक बार और अच्छी तरह याद कर लीजिए कि कही गलत जगह तो नही आ गये है ? क्योकि इस तरह तो आप सत्यवानों के लिए आया करे थे ···' और थोड़ी पास आ फुसफुसाई— 'एक सत्यवान से तो आप मिल ही चुके···चाहें तो उलटफेर ··चल सकता है। मैं उस दकियानूस सावित्री की तरह बिलकुल पीछे नही पड़ूँगी और बात भी सिर्फ मुक्तक रहेगी—ये वादा रहा। वैसे भी इस समय मुझे कायदे से नारी-मुक्ति-संगोष्टी मे···'

'गोली मारिए, आपकी तो अब मुक्ति-ही-मुक्ति है। वैसे चीज खासी दिलचस्प है आप ! खैर जल्दी चलिए, बाहर भैंसा इंतजार कर रहा है।'

असहाय हो, और कोई उपाय न देख मैने दाँत से उँगली काटते हुए कहा—'मैं भैंसे पर बैठकर नही जाऊँगी।'

अब यमराज मुस्कुराये—'क्यो ? आखिर एतराज क्यों है आपको ?

'एतराज ?' मैंने कहा—'आप इतने बड़े यमलोक के मालिक और भैंसे

पर चलते हैं ? जानते हैं, हमारे यहाँ मृत्युलोक में तो भैंसेवाली गाड़ी पर कचरा ढोया जाता है।'

यमराज एक आँख दबाकर हँसे—'कचरा ही तो बटोरने मैं भी निकला हूँ।'

'क्या ?' मैं यमराज के दुस्साहस पर दंग रह गयी। आँखों से धारा-प्रवाह पानी बह निकला। फिर भी वह डूब मरने के लिए चुल्लू-भर पानी से कम ही था। नहीं तो इतने सालों के धुआँधार प्रतिबद्ध हिन्दी लेखन के बाद यह नीम पर चढ़े करेले वाला सच सुनने के लिए जिन्दा रहती भला ? धिक्कार है धिक्कार ! अब इस जिन्दगी में बाकी रहा भी क्या ? सो यमराज को कुछ करना ही नहीं पड़ा। मैं तो उनके मुँह से अपने लिए कचरे का खिताब सुनने के साथ ही शर्म से मर गयी थी।

बहरहाल यमराज ने 'कचरे' को भैंस पर लादा और हाँक दिया।

मेरी सिसकियों की बीन बजती जा रही थी, उनका वाहन पगुराता जा रहा था ! यमराज ने औपचारिकता निभायी—'रो क्यों रही हो—क्या हुआ ?'

मैं लेखकीय कुण्ठा और संत्रास की मारी बिफर पड़ी—'कुछ नहीं हुआ, इसीलिए तो रो रही हूँ ! आपने मौका ही कहाँ दिया ? न प्रेस वाले आ पाये, न फोटोग्राफरों को ही सूचित किया जा सका। अन्तिम इच्छा के रूप में टी० वी० पर अपने ऊपर एक डाक्यूमेंटरी फिल्म बनाने की बात तक नहीं कह पायी… जरा कुछ दिनों रुक गये होते तो एकाध अभिनन्दन, सम्मान-गोष्ठी, कुछ-न-कुछ तो हुआ ही होता !'

'कुछ भी नहीं होता।' यमराज दो टूक लहजे में बोले—'हाँ अब होगा—तुम्हारे वहाँ से गुजर जाने के बाद …अब कुछ-न-कुछ जरूर होगा।'

'ओह, तो आपको भी यह सब मालूम है कि हिन्दुस्तान में कवि-लेखक, मर जाने के बाद ही सम्मानित, पुरस्कृत किये जाते हैं, या फिर तब, जब वे इस हालत में रह ही नहीं जाते कि हिलते-काँपते मंच पर पुरस्कार लेने पहुँच पाएँ।'

'सब जानता हूँ। मेरे कोई एक चक्कर लगते है दिन-भर में ?—अरे यह भी कोई जगह है रसाली…'

मैं बिगड़ी—'गाली क्यों देते हो महाराज ! जगह तो मस्त है। एकदम फर्स्टक्लास। वो क्या कहते हैं, हजारों नरक-लोकों की इसके सामने छुट्टी ! अच्छा, यह बताइए—बहरहाल मुझे रहना कहाँ होगा अभी ?'

यमराज मुस्कुराये—'चित्रगुप्त हिसाब-किताब देखकर बतायेगा कि कौन-सा 'कुंड' उपयुक्त होगा।'

'कुंड ?' मेरी फिर घिग्घी बँध गयी—'इसमे कुंड में डालने की क्या बात है महाराज ?—मुझसे बड़े-बड़े व्यंग्यकार पड़े हुए हैं। मैं तो उनके सामने कुछ भी नहीं ! यह भी क्या बात हुई कि व्यंग्य-लेखन के एवज मे उधर भी कुंड, इधर भी कुंड'' ठीक है, फिर कम-से-कम ऐसा कीजिए—बड़े व्यंग्यकारों को बडा कुंड, छोटे व्यंग्यकारों को छोटा कुंड।'

यमराज डपटे—'तुम चुप रहो जी ! जब से आयी हो चपर-चपर किये ही जा रही हो। कान खोलकर सुन लो, हमारे यहाँ सब काम कर्मफल के हिसाब से '

'वही तो 'आप लोग नयी बातें सीखते ही नही ! वही बाबा आदम के जमाने के कर्मफलों की रट आज भी लगाये जा रहे है। हमारे यहाँ ऐसा कुछ भी नहीं होता, न कर्म-कुकर्म मिलाये जाते है, न झूठ-सच, सच पूछिए तो जमाना इतनी तरक्की कर चुका है कि सच और झूठ जैसी कोई चीज रही ही नही, बात-की-बात में सच को झूठ और झूठ को सच की ऐसी शक्ल दे दी जाती है कि पता ही नही चलता कि हकीकत में जो है, वह सच है या झूठ है। इसलिए कोई झंझट होता ही नही। जब चाहे, जहाँ चाहे, झूठ वाले सच का फल हड़प लेते है और सच वाले झूठो की जमात में शामिल कर लिये जाते है'' टका लेकर निकलो और जितने चाहे भाजी तथा खाजा खरीद लो। कोई रोक-टोक नही इस नगरी मे और आप लोग हैं कि वही सच-झूठ की पुरानी मान्यताओं पर आँख मूँदकर चले जा रहे है ! खासे पिछड़े किस्म के लोग है !'

यमराज कुछ बोलने ही वाले थे कि तभी ऊपर से दो यमदूत बदहवास-से भागते-से आते हुए दिखाई दिये। मैंने समझा शायद यमराज ने नाराज होकर फौरन छूं-मंतर कर इन्हे बुलवाया है—अब मेरी शामत आने वाली है। मैं बदहवास-सी देखने लगी। लेकिन वे दोनों मुझसे भी ज्यादा बदहवास

दिये। आते ही जल्दी से यमराज को एक तरफ ले जाकर फुसफुसाये—'चित्रगुप्त से हिसाब-किताब में गलती हो गयी महाराज! वह···वह दूसरी औरत है। इसे वापस भेजना होगा।'

'मूर्ख!' यमराज ने उन्हें डांटा और मुझे तत्क्षण ऊपर से सीधी छोड़ दिया।

मैं पुलकती हुई वापस बिस्तरे पर आ गिरी। लेकिन शरीर में हरकत आते ही देखती क्या हूँ कि सारे रेडियो, टी० वी०, समाचार-पत्र वाले धीरे-धीरे खिसकते जा रहे हैं। रेडियो वाले ने फटाफट माइक समेटा, टी० वी० वालों ने कैमरा, यानी जिन्दा होते ही वे फिर से मेरे मर जाने तक के लिए वापस हो गये।

यक्ष-विलाप

मेहरबानो, कद्रदानो ! यक्ष फिर से बदकिस्मती का मारा है। वही हाल-बेहाल, वही चिर-विरही यक्ष। इस बार विछोह उसकी यक्षिणी का नहीं, उसकी आत्मा का है। आत्मा ही गायब हो गई है उसकी। अब आत्मा के बिना कैसी बेगैरत जिन्दगी ! तो जाहिर है, उसे एक अदद मेघदूत की तलाश है। किसी जमाने में वह उसका खासा खैरखाह हुआ करता था; लेकिन अब कहाँ का खैरखाह और कैसी मदद ! सदी के इस सबसे बड़े सूखे-भूखे दिनों मे मेघों के कहाँ दर्शन ! उसके पास इस देश के लिए, यक्ष के लिए फुर्सत ही नहीं !

और इधर यक्ष है कि खटवार-पटवार लिये पड़ा है। हालत नाजुक है ! होनी भी चाहिए। सालो-साल से आत्मा गायब है बेचारे की। यूँ बेवफाई तो पिछले कई सालों से चालू थी उसकी, लेकिन इस तरह एकाएक विन चड्ढा हो जायेगी, इसकी उम्मीद नहीं थी यक्ष को।

बहरहाल जो ईश्वर हाल-बेहाल करता है, वही संदेशवाहक भी मुहैया करता है। ऐसी हालत में यक्ष को सूझा, क्यों न एक के बाद एक दिल्ली मे एयर डैशिंग करते वायुदूतो के जरिये सँदेशा भेजा जाए ?

अथ यक्ष-संदेश : हे दम पर दम दिल्ली के आकाशमार्ग पर मँडराते हुए वायुदूत ! जब तुम दिल्ली की अलकापुरी से भी सुन्दर, गगनचुम्बी अट्टालिकाओं के ऊपर से गुजर रहे होगे तो जरा, बाढ-निरीक्षण के लिए प्रयोग में लाये जाने वाले बाइनाकुलर से देखना—बहुत सम्भव है, उन अट्टालिकाओं में से किसी एक के वातानुकूलित ड्राइंगरूम मे फैली-पसरी मेरी आत्मा तुम्हे दिख जाये। यूँ तो उसने सरकारी आवासों में भी दो-तीन फ्लैट्स अलग-अलग फर्जी नामों से बुक करा रखे हैं, लेकिन वहाँ तो वह कभी-कभार ही, चेकिंग करने वालों की आँखो में धूल झोंकने के निमित्त

ही जाती है। अत मित्र, ज्यादा उम्मीद तो यही है कि करोड़ों से सुसज्जित किसी भव्य अट्टालिका में ही वह अपनी अगली विदेश-यात्रा के दरम्यान लायी जानेवाली साड़ियों, घड़ियों, परफ्यूमों और बिस्कुटों की लिस्ट बना रही होगी।

मित्र, पहली नजर में तो उसे देखकर तुम पहचान भी नहीं पाओगे। धोखा खाने की पूरी-पूरी सम्भावना है, क्योंकि तुम्हें तो सालों-साल पहले की देखी, उसकी गेरू खिचाई तस्वीर का ही स्मरण होगा। उन दिनों वह कैसी सिडी-सिडी सिलबिल्ली-सी हुआ करती थी। हर बात में सही-गलत, उचित-अनुचित और सच-झूठ को लेकर मुझसे उलझती रहती थी। अपने छोटे-छोटे आदर्शों-उसूलो को लेकर भी वह बड़ी 'टची' हुआ करती थी। लाख समझाओ, राई-रत्ती टस से मस होने को तैयार नही। उन दिनों वह मेरी आत्मा, बड़े झमेले खड़े किया करती थी। न्याय और निष्ठा की दुहाई देती बला की हठी और अभिमानिनी। सच को सच और झूठ को झूठ कबूलवाकर ही रहती, चाहे उसके पीछे फाके ही क्यों न करने पड़ जाएँ।

सखे, उन दिनो उसे मेरे साथ फाके-मस्ती मे भी मजा आता था। कर्ज की पीते थे गालिब और समझते थे कि रंग यह, लायेगी हमारी फाकामस्ती एक दिन। लेकिन वही फाकेमस्त आत्मा, दिल्ली की ऐशगाह मे ऐसे रग जमा बैठेगी कि अपनी पहली सारी पहचान ही भुला बैठेगी, इसका जरा भी इल्म नही था मुझे।

लेकिन उसे दोष भी क्या दूँ बंधु? दिल्ली जगह ही ऐसी है कि बिलकुल गुड़ की भेली जैसी और चीटियों-सी तमाम आत्माएँ उसका चूरा झाड़ने में मस्त हैं।

सो सखे, उसका गेरू उकेरी तस्वीर से तो तू मिलान करना मती। अब इतने बरसों में तो वह घाट-घाट का पानी पी, सिखी-पढ़ी सयानी हो गई है। अपना भला-बुरा, नफा-नुकसान समझने लगी है। अब वह बात-बात मे उड़ती भी नही। सच को सच और झूठ को झूठ ही साबित करने की मगजमारी और बेवकूफी भी नही करती। इशारा समझाकर भ्रम दे डालती है, वक्त को बदल डालती है, खारिज कर डालती है। नुकसान के आँकड़ो को नफे मे बदलने मे तो उसे महारत हासिल है।

लेकिन इतना सब होने पर भी, मित्र, तू उससे मेरी गई-गुजरी हालत का बयान मत करना, क्योंकि वह तो मुझे, मेरी तबाही को, पूरी तरह कब की भूल चुकी होगी। सालों हो गए, उसकी जीप को इस रास्ते पर गर्द-गुबार उड़ाये। अरसा हुआ उसके हेलीकॉप्टर को यहाँ पूँछ फटकारे—जब वह हाथ जोड़े उतरती, हाथ जोड़े ही चढ़ती। चढ़ते-उतरते, बस एक ही रट लगाये रहती, 'मुझे सेवा का अवसर दीजिए।' तब किसी को यह नहीं मालूम था कि वह किसकी सेवा का अवसर माँग रही है।

बेसोचे-समझे, मूरख लोगों ने दे डाला, सेवा का अवसर। उसने लपक-कर झपट्टा मारा और जा बैठी हेलीकॉप्टर में। बस, तब से आज तक उसका अता-पता नहीं मिल पाया। भूखा-प्यासा, थका-हारा मैं ढूँढ-ढूँढकर हारा।

सुना है, अब तो हमेशा दस-पाँच की मण्डलियों में घिरी बैठी रहती है, राय-बात चलती रहती है—आज किस एरिया को दंगे के सामानों की सप्लाई की जाये, किस शहर का कौन-सा डेलीकेट एरिया छाँटा जाए, कौन-सा क्षेत्र काफी दिनों गड़बड़ीवाला नहीं घोषित हो पाया, उस वाली गली में आग लगवानी ठीक रहेगी या इधर वाली सब्जी मण्डी में? फलाने कॉलेज में छात्रनेता को फाँसा जाये या ढमकाने कारखाने के यूनियन लीडर को? कारखाने से बस डिपो भी पास है, दो-चार प्राइवेट गाड़ियों को भी फूँकने का सुभीता रहेगा।

हथगोले अगले हफ्ते बँटवाना, लेकिन ठीक से प्रशिक्षित करके। बेकार सामानों की बरबादी न होने पाये···और सभी सम्प्रदायों को समान रूप में बाँटे जाएँ। किसी को कोई शिकायत न रहे। जो मूर्ख, अपढ़, अज्ञानी है, उन्हें प्रशिक्षित, ट्रेंड किया जाना जरूरी है।

तो सखे, जहाँ कहीं तुम इस प्रकार की सरगर्मी और विशिष्ट बैठकें देखना, समझ लेना वहीं मेरी सालों की बिछुड़ी आत्मा का निवास है, वहीं बेचारी फैली-पसरी घर-फूंक तमाशा देखती आराम के क्षण गुजार रही है। हो सके तो उससे तुम सिर्फ इतना कहना कि अब भी समय है। बहुत हो चुका। कुछ तो सोच उस गेरू खींची तस्वीर और अपने उस विरही यक्ष के बारे में! लौट जा! वैसे वह सुनेगी और लौट के आएगी, इसकी मुझे तो

कोई उम्मीद नजर नहीं आती। लेकिन इस बेचारे यक्ष के पास इसके सिवा दूसरा कोई उपाय भी तो नहीं।

क्योंकि यक्ष शापित है—वोट की ओट में भूखा-प्यासा ताउम्र सिर धुनने को और तीन सौ पैंसठ दिनों में एक बार दूध-डबलरोटी खाकर उपवास तोड़ने को। (वह भी जब कहीं बाढ़ आई हो तो राहत के नाम पर) बाकी समय तो वह जहां भी बैठता है, उसके नीचे एक लाइन खींच दी जाती है और उसे समझा दिया जाता है कि यार, तू बेकार ही रोना-धोना मचाये है! देख, इधर देख, अरे तू तो गरीबी रेखा के ऊपर है। जरा उनकी सोच जो इस रेखा के नीचे हैं!

और यक्ष सोचने लगता है। सोचकर खुश हो लेता है तथा बारंबार उस यक्षिणी आत्मा को नमन करता है जिसने उसे गरीबी रेखा के नीचे रहने के कलंक से बचा लिया। ▭

हमें भी कुछ कहना/करना है

'सती' जैसे 'घास्टली' और 'इनह्यूमन एक्ट' पर इतना कुछ कहा जा चुका है कि उसपर और कुछ कहने की बिलकुल गुंजाइश नही, फिर भी मैं कहने पर उतारू हूँ·· इसलिए, क्योंकि मेरी लोकतन्त्र मे पूरी आस्था है। मैं लगातार कहने और सिर्फ कहते चले जाने के बिना नही रह सकती। मैं इस प्रणाली का भविष्य खतरे में नही डाल सकती।

साथ ही, मेरी यह कुछ कह पाने की बेसब्री अकारण नही। कहने वालो की एक लम्बी कतार लगी है। एक-दूसरे को आँखें गुरेर-गुरेरकर धकियाते हुए राष्ट्रीय चेतना जगाने वालों की—जागो मोहन प्यारे जागो और राष्ट्र की धारा से जोड़ने वालों की—चल दरिया में कूद जायें···(दौडना आता है न? दूसरे किनारे से निकल जायेंगे।)

सबकी एक ही बेसब्री, देश के प्रति एक ही सर्वोपरि चिन्ता—मुझे कुछ कहना है· मुझे भी कुछ कहना है क्या? यही कि इस क्रूर और अमानवीय घटना की जितनी भी निन्दा की जाये, कम है·· और आपको? जी हाँ, कि यह हमारे देश की धवल कीर्ति पर लगा एक कलंक है···और? 'घास्टली' 'इनह्यूमन'·· बस? नही, और भी कि हमे जुड़-मिलकर इसका सामना करना है। जी हाँ, डटकर मुकाबला करना है। हमारी लड़ाई जारी रहेगी। रेडियो, टीवी से सटे-सटे, सुबह साढे सात से रात दस-साढ़े दस तक—हमें चैन से नही बैठना है (न दर्शकों को चैन से बैठने देना है)। अपने धर्म, कर्तव्य और राष्ट्रीय सामाजिक दायित्वो से मुक्ति पाने का यही तो कारगर तरीका है! सिलसिला बरकरार है। प्रक्रिया चालू है कड़े-से-कड़े शब्दों मे निन्दा करने की। यही एक काम ऐसा है जो हम जुड़-मिलकर, आँखें मूँदकर करने में विश्राम करते है। बड़े-छोटे, अमीर-गरीब सब आपस का अन्तर भुलाकर करते हैं। तो, आओ प्यारे 'वीरो', आओ, एक साथ मिलकर गाओ।

आइए, व्यक्तिगत और सार्वजनिक स्तर पर, लोकल और प्रादेशिक स्तर पर, अपनी-अपनी पहुँच और औकात-बिसात के हिसाब से, मनचाहे जिसको, जी-भर के कोसिए, पुलिस वालों को तो जरूर। आजकल पुलिस वालों को गालियाँ देना काफी अच्छी दृष्टि से देखा जाता है। उन्हें गालियाँ देते ही आप ईमानदार सिद्ध हो जाते हैं और सीधमसीध राष्ट्रीय भावना से जुड़ जाते हैं। पुलिसवालों को इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। वे प्रशासन को जिम्मेदार ठहरा देते है, प्रशासन किसी और महकमे को। इस प्रकार सारे-के-सारे महकमे एक-दूसरे को जिम्मेदार ठहराते हुए 'पासिंग-द-पार्सल' खेलते रहते है। जिम्मेदारी का पुलिंदा एक से दूसरे, दूसरे से तीसरे की तरफ उछाला जाता रहता है। थामने का खतरा क्यों कोई उठाये? खेल का मजा किरकिरा करना है क्या? संगीत बेरोकटोक चलता रहता है—बेखुदी/बेशर्मी हद से जब गुजर जाये ··

सोचिए तो, आप बहुत-कुछ कर सकते हैं। अरे, और कुछ नहीं तो कुछ यार-दोस्तों, बंधु-बांधवों को बुलाकर 'एक शाम, सती के नाम' कर डालिए; यानी एक सार्थक आयोजन, एक विचारोत्तेजक परिचर्चा। विषय होगा—सती 'एक्ट' कितना सही कितना गलत; 'सही' की दूर-दूर तक गुंजाइश नहीं लेकिन गोष्ठियाँ जरूरी नहीं कि यह सब सोचकर ही आयोजित की जायें। उनका मकसद इससे कहीं ऊपर होता है। बहरहाल, गोष्ठी सफल और आपका श्रम सार्थक होगा बशर्ते 'मीनू' जोरदार हो और प्रेस तथा मीडिया का सहयोग हो।

चाहें तो इस अवसर का फायदा उठाकर लगे हाथों एक पार्टी भी बना डालिए वरना 'मन पछितैहे अवसर बीते।' इसके लिए कुछ खास मशक्कत भी नहीं करनी पड़ेगी। पार्टी बनाने का ढेरमढेर मसाला या कह लीजिए कच्चा माल इस देश में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। समृद्ध है अपना देश, इफरात, बेरोजगार मैन-पावर, भूख, बेकारी और अशिक्षा की वजह से तमाम समय-ही-समय और बोरियत दूर करने के लिए बेसब्र दिल, दिमाग; इन्हें संगठित कीजिए, किसी भी फैक्टरी के फाटक से, दिहाड़ी के काम से बचे हुए ये लोग एक-दो कुल्हड़ चाय या अद्धे की बोतलों की किस्तों पर उपलब्ध हो जायेंगे।

आपका काम चल निकलेगा। इस पार्टी का मोरचा निकलवाइए। सुबह, 'सती-मतायी, गयी जलायी' वाला और शाम को 'सती माई सदा सहाय' वाला।

इन लोगों से आप बेखटके कुछ भी करवा सकते हैं। निस्संग-भाव में किसी की जय बोलने या किसी को काला झंडा दिखाने में इनका कुछ जाता-वाता नहीं। क्योंकि ये बेचारे सत-असत कुछ नहीं जानते। ये सच-झूठ के चक्कर में नहीं पड़ते। पड़ सकते भी नहीं। इनका सबसे बड़ा सच रोटी का टुकड़ा है। इस 'सच' को पाने के लिए वे अपने कमजोर हाथों से आपकी पार्टी का हाथ मजबूत करने के लिए तैयार और लाचार हैं।

मौका पड़ने पर आप इस 'पार्टी' को चाहे तो किराये पर भी उठा सकते हैं और प्रचुर धन-यश अर्जित कर सकते हैं।

सती से जुड़ा सबसे अहम सवाल यह है कि हम क्या करते रहे हैं, क्या कर रहे हैं और अब क्या करना चाहिए? मेरी समझ से हमें मौके का फायदा उठाना चाहिए (वैसे हम यही करते रहे हैं, हमें यही करना चाहिए।) ऐसे मौके बार-बार नहीं आते। यह आम घटनाओं से थोड़ा अलग है। यों बहू-बेटियों के जलने-मरने की बातें चलती रहती हैं, पर वे समाचार भी अब पिट गये, प्रेस के लिए भी। दो-चार-दस छाप दिये। अब कितना छापें? बहुत हुआ बस, नहीं छापते जी! दम नहीं रहा अब इन रपटों में! पब्लिक को कुछ नया, चेंज माँगता है।

सूखा-सूखा भी बहुत हुआ, यानी वही, हद से गुजरने वाली बात! तो हम भी सूखा देखें या अपना धंधा? हमें तो सब-कुछ देखना है। हमारे लिए तो सब बराबर। सूखा अपनी जगह, संस्कृति अपनी जगह। अब सूखे को तो संस्कृति से जोड़ा नहीं जा सकता। कितना बेडौल शब्द बनता है, सूखा-संस्कृति! खासा फूहड़! इसलिए इस सूखे के पीछे हम अपनी इतनी समृद्ध-संस्कृति और उसके उत्सवों को थोड़ी छोड़ देंगे!

बहरहाल, सवाल यह है कि क्या होना चाहिए था? तो होना तो यही चाहिए था कि हम सभी लोग जाकर उस लड़की बेचारी को समझाते कि देखो, तुम्हें मरना नहीं चाहिए। मरना ही हो तो घुट-घुटकर मरना चाहिए,

इस तरह सती होकर नहीं। इस तरह मरने की कोशिश करोगी तो तुम्हें पुलिस पकड़ ले जाएगी। हवालात में बन्द कर दी जाओगी। इसलिए तुम्हें मरने की बात सोचनी ही नहीं चाहिए। तुम्हें जीना चाहिए-- अपनी खातिर नहीं तो अपने देश की खातिर, अपने हलके के कलेक्टर की खातिर। जिंदा रहने के नाम पर ही सही, सिर मुंडवाकर, जमीन पर सोकर, कुलश कुलच्छनी आदि हजार मलामतें सहकर, नरक से भी बदतर जीवन कुबूल करते हुए भी तुम्हें जीवित रहना चाहिए। बस इतना कि सामाजिक दृष्टि से, डॉक्टरी परीक्षण से तुम जिंदा प्रमाणित की जा सको। हमारे लिए उतना ही बहुत है।

देखो, आखिर लाखों-करोड़ों जिंदा रह ही रहे हैं न! सो, जिद नहीं करते। बेकार का वावेला मचाने से फायदा? अच्छी लड़की बनो! अच्छी लड़कियाँ देश, समाज, घर-परिवार की इज्जत का सेहरा बाँधे जिस तरह जीती हैं, तुम भी वैसे ही जीने की कोशिश करो।

मुझे लगता है, इस तरह प्यार से समझाने से वह लड़की अवश्य मान जाती। इसका सबसे अच्छा परिणाम यह होता कि हमारे राष्ट्रीय स्तर की यह एकमात्र वार्ता होती जो सफल होती और हम सार्वजनिक मखौल से बच जाते। ▭

शहरनामा अपने प्यारे शहर का…

एक सच्चे हिन्दुस्तानी के लिए सबसे बड़ी गाली यह होती है कि कोई उसे देखकर कह दे—यार, तू तो जमाने के साथ बदल गया ! या कि 'अच्छा तुझे भी जमाने की हवा लग गई ?' ..

इसलिए पुरखों के जमाने से हमारा यह उसूल चला आता है कि मौजूदा जमाने की हवा को पूरा-का-पूरा कार्बन डाइऑक्साइड ही समझा जाए और उससे पूरा परहेज बरता जाए। यह गाली-गलौज से बचकर रहने का सबसे कारगर उपाय माना जाता है।

मेरे शहर ने इस सच को आज से सौ साल पहले ही पहचान लिया था। इसीलिए आज सैकड़ों साल बाद भी वह जस-का-तस है। नेकहूँ नहीं बदला। दास कबीर की तरह उसकी चादर जस-की-तस है। मैली-कुचैली की मैली-कुचैली।

अब है किसी की मजाल जो उसको गाली दे ? वह वैसा-का-वैसा कूड़ेदानों, खुली गलियों और चहबच्चा सहित मक्खियाँ उड़ाता शान से खड़ा है। मैं कहती हूँ, वह क्यों बदले ? उसे क्या पड़ी है बदलने की ? आपसे मतलब ? आपका दिल चाहे आइए, आपका दिल चाहे न आइए। अरे जिसे आना होता है, यानी जिसे आना पड़ता है, वह नाक पर रूमाल धरे, नाली-चहबच्चे फाँदता आता ही है। पुरखों का शहर जो ठहरा ! अपनी मिट्टी के कीचड़ से जुड़े रहने की लाचारी जो ठहरी !

लोग आते हैं और अपने प्यारे शहर को देखकर भावुकता से जार-बेजार आँसू रोते हैं। सो कोई बात नहीं। अपने शहर को देखकर, उसकी दशा को देखकर कौन नहीं रो पड़ता ? किसका पत्थर का कलेजा है जो न दहले ? अर्थात् किसी का नहीं। फिर मेरा तो इस शहर से जनम-जनम का नाता है। मैं तो इसी शहर के कीचड़ में कमल की तरह खिली हूँ और इसी शहर के राशन का गेहूँ खाया है। इसलिए मुझे पूरा हक है अपने शहर पर भावुक होने का।

भावुक होने का यह सिलसिला शहर में दाखिल होने के साथ, स्टेशन में ही शुरू हो जाता है। उदाहरण के लिए होलडाल और सूटकेस लिये

जैसे ही बाहर जाने के लिए मुड़िए—सूटकेस वाली तरफ से 'महिलाएँ' और होल्डाल वाली तरफ से 'पुरुष' की तीव्र गंध आपको बुरी तरह 'नोस्टेलिजिक' कर देगी। उसके बाद आप जैसे-जैसे शहर के अन्दर दाखिल होते जाएँगे, आपको इस किस्म की यादें तरोताजा होती जाएँगी। आपको लगेगा—आह! ये वही गंदले पानी के चहबच्चे तो है जिनमे सैकड़ो वार लथपथाने के बाद मुझे वारी-वारी से मलेरिया, मियादी बुखार और टायफॉयड हो गया था। ये वे ही हठीली मक्खियाँ है जो वचपन मे वार-बार हाँकने पर भी आकर यहाँ-वहाँ भिनभिनाती रहती थी। यह वही 'स्मारक' है जिसके जीर्णोद्धार की वात गए जमाने वाले एम० एल० ए० ने की थी।

आगे बढने पर आपका वास्ता शहर की सड़को से पड़ेगा। इन सड़को के दायी और बायी तरफ तरह-तरह के गड्ढे खुदे हुए दिखाई देंगे। दायी तरफ के लम्बे नालीनुमा गड्ढे वाटरवर्क्स वालो के खोदे हुए होते हैं और बायी तरफ के छोटे और गहरे गड्ढे सीवर वालो के। ठीक बीच मे जरूरत के मुताबिक टेलीफोन, बिजली और अन्य विभागो के गड्ढे भी खुदते रहते हैं।

जहाँ तक इन गड्ढो को पाटने का सवाल है, उसके लिए सरकार अभी तक कोई महकमा नही बना पायी है। यह एक तरह से अच्छा ही है, नही तो वे महकमे जल्दी-जल्दी गड्ढो के रूप में शहर की प्रगति और विकास की दिशा ही पाट-पूट देते। खुदी सड़क देखकर अलग-अलग महकमों की सरगर्मी का जो आभास मिलता है, वह मुंदी हुई सड़क मे कहाँ? और वैसे भी उपर्युक्त सारे विभाग एक मुद्दे पर एकमत हैं कि सडकें खोदने के बाद पाटना कम-से-कम इनके अधिकार या कर्त्तव्य के क्षेत्र में तो नही ही आता।

हमारे शहर में तीन-चार पार्क भी हैं। पार्क को पहचानना तो बहुत ही आसान है। जहाँ भी आपको बहुत सारे अगल-बगल के लोग एक साथ किसी खुली जगह मे मालिश करते, धूप सेंकते और अपनी बोरियाँ, कथरियाँ और गुदडियाँ सुखाते दिख जाये, समझ लीजिए कि आप हमारे शहर के किसी पार्क मे आ गये। कुछ महिलाएँ इन पार्कों में तरह-तरह के पापड़, बड़ियाँ आदि सुखाती भी देखी जा सकती हैं। इस प्रकार हमारे जैसों के शहरों के पार्क हिन्दुस्तान के सत्तर प्रतिशत महिला-गृहउद्योगों के लिए आधार-भूमि प्रस्तुत करते हैं।

इन पार्कों में एकाध नल भी लगे होते हैं जो कुल्ला-दातुन करने, बर्तन माँजने-खंगालने और कालिख-मिट्टी धोने-बहाने के काम मे आते हैं। यहीं पर इधर-उधर नगधड़ंग दौड़ते-भागते, लोटते-पोटते बच्चों को पकड़-पकड़-कर माताएँ नल की धारा के नीचे रगड़-रगड़कर, चाँटे मार-मारकर नहलाती रहती है। इस तरह देश को स्वस्थ नहाये-धोये नागरिक प्रदान करने का सबसे बड़ा श्रेय हमारे शहर के पार्कों को है।

एक और अजूबी बात यह है कि यह स्थान बनाया गया था सिर्फ पार्क के ही खयाल से, लेकिन धीरे-धीरे ये आप-से-आप 'जू' के रूप में परिवर्तित होता चला गया और आज इस पार्क, नही 'जू' में हिन्दुस्तान-भर के सभी अजीबो-गरीब जातियों और नस्लों के पशु-पक्षी आबाद हैं; पालतू तथा जँगली दोनों ही किस्मो के गाय, भैंस, बकरी, कुत्ते, सुअर, मुर्गियाँ तथा अन्यान्य प्रकार के जीव जहाँ सुख से विचरते हैं।

पक्षियों में सबसे अधिक संख्या कौओं की ही है। इसका कारण बच्चों और उनके माता-पिताओं द्वारा खाकर फेंके गये खोमचो के खोंसे और दोने-पत्ते आदि हैं, क्योंकि इन वस्तुओं ने धीरे-धीरे कचरे के ढेर की शक्ल अख्तियार कर ली है और इससे कौओं की रोजी-रोटी का स्थायी प्रबन्ध हो गया है।

इसके अतिरिक्त एक मान्यता-प्राप्त कचरे का बड़ा ढेर भी पार्क की रेलिंग से सटा हुआ ही है। कायदे से उस कचरे के बड़े ढेर को भी पार्क की सीमा में मिला लेना चाहिए। इससे पार्क और ज्यादा बड़ा हो जाता और गालिब का यह शे'र उसपर पूरी तरह से लागू होता कि—

क्यों न फिरदौस को दोजख में मिला लें यारो,
सैर के वास्ते थोड़ी-सी जगह और सही!

इन पार्कों की सबसे बड़ी खूबी यही है कि ये पार्क छोड़कर और सब-कुछ नजर आते हैं।

वह पार्क के सामने वाली इमारत काँजी हाउस नहीं, सिनेमा हॉल है। ऐसे-ऐसे कई सिनेमा हॉल हमारे शहर में है। सिनेमा देखना है आपको? तो देख सकते हैं। लेकिन गमछा है क्या आपके पास? असल में जरा फुर्ती से काम लेना होता है। बीवी-बच्चों को लेकर देखने जा रहे है या यार-दोस्तों

को—शो खत्म होने से पहले ही भीड़ में धँसकर, दौड़कर, जितनी सीटें चाहिएँ उनपर गमछा बिछाकर रिजर्व कर लीजिए, नहीं तो आप किसी और की बीवी के बगल में बैठे होंगे, आपकी पत्नी किसी और के ! खैर, यह तो मामूली-सी बात है। मुश्किल पड़ती है टिकट लेने में। उसमें आप जैसे लोग कामयाब नहीं हो पायेंगे। किसी प्रोफेशनल को भेजना पड़ता है। प्रोफेशनल सिस्टम यह है कि वह आदमी टिकट-खिड़की की मीलों लम्बी लाइन की धक्कम-धुक्की से टिकट नहीं लेता, बल्कि सिनेमा हॉल के सामने लगे नीम के पेड़ की डाल से झूल जाता है कमर मे गमछा या साफा बाँधकर और लोगों के कंधों, सिरों के ऊपर से झूलता हुआ टिकट-खिड़की से टिकट ले, वापस पेड़ की डाल पर आ जाता है। इस प्रोफेशन वाले सभी बीमाशुदा होते हैं।

ये लोग सिनेमा हॉल के अन्दर की भी आचार-संहिता जानते हैं। आप जाएँगे तो हैरान होंगे कि ये चालीस प्रतिशत कुर्सियों के हत्थे और साठ प्रतिशत कुर्सियों के पाये क्यों टूटे हुए है, साथ ही मैनेजर का बायाँ कान और डोर-कीपर की नाक का निचला हिस्सा क्यों कटा हुआ है ? वजह यह है कि जब पिक्चर अच्छी लगती है तो लोग मारे खुशी के कुर्सियों के हत्थे पीट या उखाड़कर अपनी खुशी का इजहार करते है और जब पिक्चर ज्यादा बदमजा लगी तो पाये उखाड़कर अपना आक्रोश व्यक्त करते है। मैनेजर तथा गेट-कीपर अधिकांशत: मूकदर्शक की भूमिका ही निभाते हैं, क्योंकि बाधा पहुँचाये जाने पर उनका वही हाल होता है जिसका बयान पिछली पंक्तियों में किया गया है।

बयान के इस मुकाम पर आते-आते मेरा कंठ भावुकता-ग्रस्त होकर रुँधने लगता है। मैं शहर की यादों के चहबच्चे मे डूबने-उतराने लगती हूँ। इसलिए मेरे उस शहर को मेरा सलाम जो हिन्दुस्तान की पिछली कई शताब्दियों के भूले-बिसरे चित्र बराबर लोगों की खिदमत में पेश किये जा रहा है और जिसे देखकर इतिहास की कई भूलें दुरुस्त की जा सकती हैं।

□□□

सूर्यबाला

जन्म 25 अक्तूबर, 1944

बचपन व शिक्षा-दीक्षा वाराणसी मे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे रीति-साहित्य में पी-एच डी।

आठवे दशक मे उभरा एक खूब जाना-पहचाना नाम, एक विशिष्ट लोकप्रिय हस्ताक्षर जिनकी रचनाओं का कथ्य और फलक सिर्फ घर-परिवार तक ही सिमटकर नही रह जाता वरन् उसके आगे भी एक विस्तृत क्षितिज तक फैला है। आज की जिन्दगी की दुहरी लाचारियों और द्वद्वभरी मानसिकताओ की अभिव्यक्ति मे विशेष सिद्धहस्त।

शुरुआत अबोध बचपन की कविताओ से। ठहराव आया कहानियों, उपन्यासो और व्यग्य लेखो पर। अब तक डेढ सौ से ज्यादा रचनाए — कहानिया, उपन्यास, हास्य-व्यग्य — शीर्षस्थ पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित एव प्रशसित। अनेक रचनाए विभिन्न भाषाओं में अनूदित। आकाशवाणी और दूरदर्शन पर प्रस्तुति भी।

रचनाए — मेरे संधि पत्र, सुबह के इतजार तक, अग्निपखी, दीक्षात (उपन्यास) थाली भर चाद, एक इन्द्रधनुष जुबेदा के नाम, दिशाहीन मैं, मुडेर पर (कथा सग्रह) कुछ अदद जाहिलो के नाम (व्यग्य संग्रह)।